तरुण-भारत-ग्रन्थावली-सं० ४१

वेदान्त-रहस्य

(श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए० बी० एल०
की बँगला पुस्तक का अनुवाद)

अनुवादक
लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय

प्रकाशक
लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागंज, प्रयाग

प्रथमावृत्ति] सं० १६६४ वि० [मूल्य १॥)

प्रकाशक का निवेदन

श्रीयुत बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त ने अध्यात्मविद्या और वेदान्तशास्त्र पर बहुत गम्भीर और व्यापक अध्ययन किया है। "गीता में ईश्वर-वाद" इत्यादि इनके कई वेदान्तविषयक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं।

यह ग्रन्थ हीरेन्द्र बाबू के "वेदान्तपरिचय" नामक ग्रन्थ का अनुवाद है। ग्रन्थकार ने वेदान्तशास्त्र के गहन विषय को वेद, उपनिषद्, दर्शन और गीता इत्यादि ग्रन्थों के द्वारा बहुत ही सरल और सुबोध बना दिया है। हमारे मित्र प० लल्लीप्रसाद जी पाण्डेय ने अनुवाद भी, मूल का अनुसरण करके, बहुत सुन्दर किया है।

आशा है, अध्यात्मविद्या के जिज्ञासुओं के लिए यह प्रयत्न बहुत ही लाभदायक और सन्तोषजनक सिद्ध होगा।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

सचित्र

प्राणायाम-रहस्य

(लेखक—स्वामी सर्वानन्द सरस्वती)

प्राणवायु पर ही प्राणियों का जीवन निर्भर है। सोते जागते चौबीसों घन्टे हम सास लेते हुए कुदरती प्राणायाम किया करते हैं, परन्तु हम में से अधिकाश लोग यह भी नहीं जानते कि हमको सास किस प्रकार लेना और छोड़ना चाहिए, और इसी कारण बहुत से लोग रोगी होकर थोडी आयु में ही काल के गाल में चले जाते हैं और अधिकाश लोग फेफडे की बीमारियों से सदैव दुखी रहते हैं।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर प्राणायाम-रहस्य नामक यह अपूर्व पुस्तक हमने निकाली है। इसमें प्राणायाम के सरल तरीको से लेकर योगियों के कठिन से कठिन प्राणायामों को, बीस बाईस चित्रो के साथ, समझाया गया है। श्वास प्रश्वास की अन्दरूनी इन्द्रियो का विवेचन भी चित्रों के साथ ही किया गया है।

यदि आप चाहते हैं कि सिर्फ प्राणायाम के ही जरिये से आप सब रोगों से बचकर अखण्ड आत्मिक शक्ति प्राप्त कर लेवे, तो आप इस पुस्तक को मँगाकर अवश्य पढ़े। यदि आप पूर्ण आरोग्य का सुख भोगते हुए सौ वर्ष तक दीर्घायु की अभिलाषा रखते हैं, तो इस सचित्र पुस्तक को मँगाकर, प्राणायाम का अभ्यास कीजिए, आप देखेगे कि थोडे ही दिन के बाद आपके जीवन में कितना सुखमय परिवर्त्तन दिखाई देता है। पृष्ठ-सख्या २२५, २२ चित्र, कपडे की मजबूत जिल्द, मूल्य सिर्फ १ ॥) रु०।

मिलने का पता—

लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागञ्ज, प्रयाग

विषय-सूची

वेदान्त-रहस्य

प्रथम अध्याय

उपक्रम

'वेदान्त' किसे कहते हैं? एक बात मे इसका उत्तर है 'वेदान्तो नाम उपनिषद्'—उपनिषद् ही मुख्य वेदान्त है। बादरायण का ब्रह्म-सूत्र—जिसे वेदान्तदर्शन कहते हैं—और उसके भाष्य, टीका तथा निबन्ध आदि ग्रन्थ उपनिषद् के उपकारी होने के कारण, गौण रूप से, वेदान्त हैं—'तदुपकारीणि शारीरक सूत्राणि'।

तो उपनिषद् को 'वेदान्त' क्यो कहते हैं? इसका उत्तर दो प्रकार का है। (१) स्तर के हिसाब से उपनिषद् वेद का अन्त अथवा चरम भाग है, अतएव यह वेदान्त है। पहले संहिता, उसके बाद ब्राह्मण, उसके बाद आरण्यक और सब के अन्त मे उपनिषद् का नम्बर है। यह संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ही वेद है। संहिता है वेद का मन्त्रभाग, ब्राह्मण भाग मे है यज्ञ की व्याख्या और विवृति तथा आरण्यक मे है यज्ञ के सम्बन्ध मे रूपक-कल्पना एव प्रतीक-उपासना का आदेश, तथा उपनिषद् मे है चरम ब्रह्मज्ञान का उपदेश। जान पडता है कि प्राचीन आर्यसमाज मे मानव-जीवन चार आश्रमो मे सुविन्यस्त था—प्रथम ब्रह्मचर्य, उसके बाद गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ और सब के

अन्त में सन्यास था। 'ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत गृही भूत्वा वनी भवेत वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।' ब्रह्मचारी की अवस्था में आर्य बालक वेद के मन्त्रभाग अथवा संहिता को कण्ठस्थ करते थे। अध्ययन समाप्त करके आर्य युवक गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। उस समय उन्हें वेद के ब्राह्मण भाग में बतलाये हुए यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना पड़ता था। गृहस्थ, प्रौढ़ जीवन में, घर-द्वार छोड़कर वनी या वानप्रस्थी हो जाते थे। तब उनका नाम 'आरण्यक' होता था; पठनीय शास्त्र का भी नाम 'आरण्यक' है। 'अरण्ये अनुच्यमानत्वात् आरण्यकम्'। वानप्रस्थ के बाद सन्यास का नम्बर था। यही चरम आश्रम है। आर्य मानव जिस समय इस आश्रम में प्रवेश करता था उस समय उसका नाम भिक्षु हो जाता था। उसी मुक्तिमार्ग के पथिक भिक्षु अथवा सन्यासी के पठनीय शास्त्र का नाम उपनिषद् है। अतएव उपनिषद् वेद का चरम भाग या वेदान्त हुआ।

(२) उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। 'सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद्-शब्द-वाच्या।' चूँकि उपनिषद् में वेद का चरम ज्ञान ब्रह्मविद्या निबद्ध हुई है इसलिए उपनिषद् वेद का शिरोभाग अथवा वेदान्त है।

तो उपनिषद् को ब्रह्मविद्या क्यों कहते हैं? क्योंकि उपनिषद् अक्षर ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन करता है।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्—

मुण्डक १-२-१३

जिसके द्वारा उस अक्षर सत्य पुरुष को जाना जाता है, उसी ब्रह्मविद्या का गुरु ठीक-ठीक उपदेश करे। ब्रह्म का एक सुपरिचित नाम 'अक्षर' है। जिसका न तो क्षय है न व्यय, जो अक्षय-अव्यय है, जो अजर और अमर है वही ब्रह्म है। जिस विद्या के द्वारा उस अक्षर पुरुष

का, उस सत्य स्वरूप परमात्मा का, उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है वही ब्रह्मविद्या है।

अतएव ब्रह्म ही उपनिषद् का मुख्य विषय हुआ और इसी लिए इसका नाम ब्रह्मविद्या है।

आर्य ऋषि लोग कहते थे कि ब्रह्म ही चरम ज्ञेय है—उसको जान लेने मे फिर और कुछ अज्ञात नहीं रह जाता।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहु. पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोद्यकश्चन अश्रुतम् अविज्ञातम् उदाहरिष्यतीति—छान्दोग्य, ६।४।५

इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके पिछले महाश्रोत्रियों ने कहा था कि आज से हम लोगों के लिए कुछ भी अविज्ञात नहीं रह गया।

किन्तु ब्रह्मतत्त्व को समझने के लिए दो और तत्त्वों को समझना पड़ता है—वे हैं जगत् और जीव। इनको समझे बिना ब्रह्मतत्त्व हृदयङ्गम नहीं होता। क्योंकि जीव और जड—ब्रह्म के ये दो विभाव (aspects) हैं। गीता ने इन दोनो का नाम परा और अपरा प्रकृति रक्खा है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश आदि जडवर्ग ब्रह्म की अपरा प्रकृति है और जीववर्ग—जिसके द्वारा जड जगत् धारित है—ब्रह्म की परा प्रकृति है।

अतएव ब्रह्म को जानने के लिए ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति—उन्हीं जीव और जड को भली भाँति जान लेना आवश्यक है। इसीलिए जीव और जड का विज्ञान ब्रह्मविद्या का अङ्गीभूत है। फलत देख पडता है कि ब्रह्म, जड़ और जीव–यही तीन प्राचीनो का तत्त्वत्रय है, वास्तव मे इन तीनों के स्वरूप और सम्बन्ध का निर्णय करना ही समस्त दर्शन का मूल और मुख्य समस्या है।

इस तत्त्वत्रय के सम्बन्ध मे आर्य ऋषियों ने उपनिषद् मे जिस सत्य-समुच्चय का प्रचार किया है वह speculation या निरी गवेषणा नहीं है, वह तो उनका अपरोक्ष, प्रत्यक्षीकृत सनातन सत्य है। वे कहते हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्यवर्णं तमस परस्तात् ।

'मैंने उस ज्योति-स्वरूप, तमस् के परात्पर महान पुरुष को जान लिया है ।' वे और भी कहते हैं—

अपाम सोमं अमृता अभूम
अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।

'सोमपान करके हम लोग अमर हो गये हैं, हमे ज्योति की प्राप्ति हो गई है, हमने देवताओं को जान लिया है ।' वास्तव मे इसी लिए उनके ऋषि-नाम की सार्थकता है । ऋषि का अर्थ है द्रष्टा (seer) जो लोग सत्य का साक्षात् दर्शन करते हैं,—अपरोक्ष का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वे ही ऋषि हैं ।* वही लोग ऋषि हैं जिनके विज्ञान का विषय वही सत्यस्वरूप सत्यस्य सत्य ब्रह्मवस्तु है । और जिस ग्रन्थ में ऋषियों का प्रत्यक्ष किया हुआ वह अपरोक्ष सत्य-समुच्चय ग्रथित है उसका नाम वेद है, उसी का शिरोभाग वेदान्त है ।

जब कि यह सत्य-समुच्चय सनातन सत्य है तब जिस ग्रन्थ मे उक्त सत्य निबद्ध है वह ग्रन्थ भी सनातन है । इसी से वेद को नित्य कहते हैं । इसका यह मतलब नहीं है कि वेद के शब्द अथवा उसकी भाषा चिरस्थायी हैं । अर्थात् यह धारणा अनावश्यक है कि हम लोग जिसे वेद कहते है वही वेद इस समय जिस आकार मे निबद्ध है वही आकार उसका अनादिकाल से था । इसी लिए पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' मे कहा है कि वेद की शाब्दी भावना नित्य नहीं है, उसकी तो आर्थी भावना

---

* पाश्चात्य देश में अब हम इस बात को सुनने लगे है । वहाँ पर ऋषियों का नाम रक्खा गया है mystic, एक अभिज्ञ लेखक ने mysticism का लक्षण इस प्रकार दिया है—The temperamental re-action to the vision of Reality-vision of Reality अर्थात् सत्य-दर्शन, सत्य को प्रत्यक्ष देखना ।

(contents वा idea) ही नित्य है। मतलब यह कि वेद के शब्द नित्य नहीं—अर्थ ही नित्य है। उसीका नाम प्रज्ञा है; यह प्रज्ञा सदा से है और सदैव बनी रहेगी। वह नित्य है, उसका न तो क्षय होता है और न व्यय। जो लोग ऋषि हैं वे ध्यान-पवित्र दृष्टि द्वारा उस प्रज्ञा को सिर्फ देख लेते हैं। उनके देखने के पहले भी वह प्रज्ञा विद्यमान थी, जब सारी सृष्टि विलुप्त हो जायगी तब भी उक्त प्रज्ञा बनी रहेगी। इस सम्बन्ध में अन्यत्र इस प्रकार लिखा गया है—"न्यूटन के माध्याकर्षण के नियम का आविष्कार करने से पहले भी माध्याकर्षण सोलहों आने अपनी शक्ति को प्रकट कर रहा था। किन्तु यूरप मे उस शक्ति के दर्शन उस समय तक किसी को नहीं हुए थे। अतएव इस विद्या का द्रष्टा अथवा आविष्कर्ता न्यूटन हैं। इसी प्रकार सत्य ज्ञानं अनन्त ब्रह्म (ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरुप है)—यह विद्या तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रकाशित होने से पहले भी विद्यमान थी, किसी ऋषि ने ध्यानदृष्टि के बल से इस सत्य का साक्षात्कार करके उसका प्रचार कर दिया। वे इस आर्य-सत्य के सिर्फ द्रष्टा हैं। वह सत्य नित्य है, वह वेद अनादि है। अशरीरी रूप से वह विद्या पूर्वापर विद्यमान थी, ऋषि ने तो उसे शरीर-दान कर दिया है।

इस अशरीरी प्रज्ञा का नाम स्फोट है। objective भाव मे जो स्फोट है वही subjective भाव में idea है। इसी लिए भारतीय स्फोटवाद के साथ, महामनीषी प्लेटो के प्रचारित 'आइडिया'-वाद का खासा सादृश्य देख पडता है। प्लेटो कहते हैं कि सारे 'आइडिया' नित्य हैं और उनका आधार अथवा निधान Devine mind अर्थात् ईश्वर का चित्त है। इस देश की भी यही शिक्षा है कि ब्रह्म ही शास्त्रयोनि है—'शास्त्रयोनित्वात्'—ब्रह्म से ही सारी विद्याओं की उत्पत्ति होती हैं।*
ब्रह्म ही प्रज्ञा का प्राचीन प्रस्रवण (सोता) है—प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।

---

* योनि कारणम्—शङ्कर।

इसीलिए पतञ्जलि ने योगसूत्र में ब्रह्म को 'पूर्वेषामपि गुरुः' कहा है। अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इत्यादि।*

क्योंकि जिसने जिस विद्या का उपदेश दिया है उस सब का आदि-मूल वही है। प्रलय के समय पर जब सृष्टि-नाटक की यवनिका गिरती है, जब सब के सब अभिनेता प्रलय-पयोधि के जल में डूब जाते हैं, तब वह विद्या अथवा प्रज्ञा ब्रह्म में अव्यक्त या अन्तर्हित हो जाती है। फिर सृष्टि के प्रारम्भ में वे आदि-पुरुष ब्रह्मा के हृदय में उस विद्या अथवा प्रज्ञा का सञ्चार कर देते हैं।

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्—श्वेत, ५।२

ब्रह्म ने कपिलवर्ण, पहले उपजे हुए, ऋषि (अर्थात् ब्रह्मा) को समग्र ज्ञान द्वारा भूषित किया था।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै—श्वेत, ६।१८

ब्रह्म पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और फिर उन्हें समग्र वेद प्रदान करता है। विद्या का ही दूसरा नाम वेद है। इसकी प्रतिध्वनि करके भागवतकार ने कहा है—

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।

मैं उस सत्य स्वरूप परमात्मा का ध्यान करता हूँ, जो आदि कवि (ब्रह्मा) के हृदय में ऐसे वेद का सञ्चार करता है जो कि सुधी लोगों के लिये भी दुर्बोध्य है और जो अपनी स्वप्रकाश ज्योति से अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है। इस प्रकार आदि-युग में ब्रह्मा ने

---

* महद् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य।

विद्या का प्रचार आरम्भ होता है। उस प्रचार-कार्य में सहायता करते हैं पूर्वकल्प के सिद्ध महात्मा लोग, जोकि प्रलय-पयोधि में अपनी अपनी ज्ञान-सवित को अछूती बचाये रहकर उठते हैं। इन लोगों को शिष्ट कहा जाता है। ये लोग पूर्वकल्प के अवशिष्ट अर्थात् Remnants हैं।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वं समाविष्टा स्वयभुवा ॥—शंकरोद्धृत वचन

युगान्त में वेद-इतिहास प्रभृति जो विद्या अन्तर्हित हो गई थी वही विद्या महर्षियों को, ब्रह्मा के आदेश-क्रम से, तपस्या द्वारा पुन प्राप्त हुई। व्यास और वशिष्ठ प्रभृति इसी तरह के 'शिष्ट' महापुरुष हैं। वे संसार के भले के लिए फिर देह धारण करके, शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा द्वारा, जगत् में ब्रह्मविद्या का पुनः प्रचार करते हैं। इस प्रकार से एक मन्वन्तर के बाद दूसरे मन्वन्तर में, जगत् में, ब्रह्मविद्या का प्रवाह लगातार बहता रहता है।

इस कल्प में ब्रह्मा से किस प्रकार ब्रह्मविद्या का प्रचार हुआ था, इसका विवरण मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार दिया हुआ है—

ब्रह्मा देवाना प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्व्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्व्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
अथर्व्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्व्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥
—मुण्डक १।१।१–२

अर्थात् विश्वस्रष्टा जगद्भर्ता आदिदेव ब्रह्मा ने सारी विद्याओं की आश्रयभूत ब्रह्मविद्या अपने बड़े बेटे अथर्वा को बतलाई। वही ब्रह्मविद्या अथर्वा ने पुराकाल में अङ्गिर को प्रदान की। अङ्गिर ने वही श्रेष्ठ विद्या भारद्वाज सत्यवाह को और सत्यवाह ने अङ्गिरा को दी तथा

इन अंगिरा ऋषि ने ही ब्रह्मविद्या के उस अंश का भारतवर्ष में प्रचार किया।

ब्रह्म से प्राप्त उस ब्रह्मविद्या का प्रचार ब्रह्मा, ऋषियों के द्वारा, जगत् में करते हैं।

एतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच प्रजापतिर्मनवे मनु प्रजाभ्य.

—छान्दोग्य, ३।११।४

यह ब्रह्मविद्या ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने मनु को और मनु ने मनुष्यों को बतलाई थी।

इस प्रकार ऋषि लोग औपनिषद ज्ञान अथवा वेदान्त के धारक, पालक और रक्षक हैं। इसी से वेदान्त का एक सार्थक विशेषण 'ऋषि-सघजुष्ट' है।

प्रोवाच सम्यग् ऋषिसङ्घजुष्टम्।

यह जो ऋषिसङ्घजुष्ट वेदान्त अथवा ब्रह्मविद्या है वही उपनिषद् में निबद्ध है और उसी का अनुसरण करके हम उल्लिखित तत्त्वत्रय अर्थात् ब्रह्म, जगत् और जीव-तत्त्व की छान-बीन करेंगे।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्म का स्वरूप

हम ने देख लिया है कि वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है।

तो इस ब्रह्म का स्वरूप कैसा है ?

उपनिषद् में ऋषियों ने जिस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का परिचय दिया है उसकी सार-कथा यह है कि ब्रह्म 'नेति' 'नेति' है।

अथातो आदेशो नेति नेति।
स एष नेति नेति आत्मा।

तो इस उपदेश का क्या भाव है ? भाव यह है कि ब्रह्म यह नहीं है, यह नहीं है। अर्थात् उसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया जाता। सारांश यह है कि वह निर्विशेष, निर्विकल्प, निरुपाधि और निरञ्जन है। इसी लिए जान पडता है कि ब्रह्म के निर्देशस्थान में उपनिषद् ने नकार से अत्यधिक काम लिया है।

तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम् अच्छायम् अतमः अवायु अनाकाशम् असङ्गम् अरसम् अगन्धम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक् अमनः अतेजस्कम् अप्राणम् अमुखम् अमात्रम् अनन्तरम् अबाह्यम्। —बृह, ३।८।८

हे गार्गि! ब्राह्मण उस अक्षर (ब्रह्म) का वर्णन इस प्रकार करते हैं—न तो वह स्थूल है, न अणु, न नाटा है न लम्बा, न वह लाल है न चिकना, न वह छाया है न तम, न वायु है न आकाश, न वह रस है न शब्द, न गन्ध है न चक्षु, न श्रोत्र है न संग, न वाक्य है न मन, न तेज है न प्राण, न मुख है न मात्रा, न भीतर है और न बाहर। उपनिषद् ने अन्यत्र कहा है—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं अदृष्टम् अव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा स विज्ञेयः।

—माण्डूक्य ७

जिसकी प्रज्ञा न तो बहिर्मुख है न अन्तर्मुख ही और जो उभय मुख भी नहीं; वह प्रज्ञान घन नहीं है, न तो प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ ही, जो दर्शन के, व्यवहार के, ग्रहण के, लक्षण के और सोचने-विचारने के भी अतीत है, जो निर्देश के भी अतीत है, किन्तु आत्मप्रत्ययमात्र में सिद्ध है, उस प्रपञ्चातीत (निरुपाधि) शान्त, शिव, अद्वैत को तुरीय कहते हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्
निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥—कठ, ३।१५

उस अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय अरस अगन्ध अक्षर (नित्य) अनादि, अनन्त, महत् परात्पर वस्तु को जान लेने से जीव मृत्यु के मुँह से छुटकारा पा जाता है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

अर्थात् ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कल और निरञ्जन है। इसी लिये उपनिषद् ने कहा है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च—कठ, २।१४

वह धर्म से पृथक् है, अधर्म से भिन्न है, कार्य से अलग है, कारण से व्यतिरिक्त है, अतीत से भिन्न और भविष्यत् से परे है।

प्रश्न होगा कि ब्रह्म यदि निर्विशेष, निष्क्रिय, निराकार और निर्गुण है तो उपनिषद् ने उसे सच्चिदानन्द स्वरूप क्यों बतलाया।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'

इस मंत्र उपदेश का उद्देश्य क्या है? हम इस प्रश्न का उत्तर यथास्थान देंगे। किन्तु यहाँ पर हमारा ध्यान देने का विषय यह है कि ऋषियों ने जिस प्रकार ब्रह्म को सत् कहा है उसी प्रकार असत् भी कहा है, अर्थात् न तो वह सत् है और न असत् ही।

न सत् न चासत् शिव एव केवलः।—श्वेताश्वतर, ४। १८

वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, वह एक और अद्वितीय शिव है।

गीता में भी कहा है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।—गीता, १३। १२

परब्रह्म का आरम्भ नहीं है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है।

इसी तरह ब्रह्म को चित् भी नहीं कहा जा सकता और अचित् भी नहीं। इस लिये योगवाशिष्ठ का कथन है कि ब्रह्म चेतन होकर भी जड़ है—

'करचेतनोऽपि पाषाणः'

फिर अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्म सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है।

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखञ्च यत्।

—महाभारत, वनपर्व, १८०। २२

हे सर्प! जो सुख भी नहीं है और दुख भी नहीं है उसी को परब्रह्म समझना।

उपनिषद् ने ब्रह्म को आनन्द कहा है तो साथ ही साथ उसे नन्दनातीत भी कह दिया है:—

आनन्दं नन्दनातीतम्।—तेज, ८

स्कन्दपुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता मे परब्रह्म का नमस्कार-श्लोक पढ़ने से इस सम्बन्ध मे रत्ती भर भी सन्देह नहीं रह जाता। वह श्लोक यह है :—

नमस्ते सत्यरूपाय नमस्तेऽसत्यरूपिणे।
नमस्ते बोधरूपाय नमस्तेऽबोधरूपिणे।
नमस्ते सुखरूपाय नमस्तेऽसुखरूपिणे॥—३।३३, २४

तुम्ही सत्यस्वरूप और तुम्ही असत्यस्वरूप हो, तुमको नमस्कार है; तुम ज्ञानस्वरूप हो और तुम्ही अज्ञान-स्वरूप हो, तुमको नमस्कार है; तुम सुखस्वरूप हो और तुम्ही असुख-स्वरूप हो, तुमको नमस्कार है।

परब्रह्म जब सत् असत्, चित् जड, सुख दुःख, नाटा लम्बा, स्थूल अणु, कुछ भी नहीं है, जब वह निर्विशेष, निर्विकल्प, निरुपाधि, निरञ्जन है तब वह अवश्य ही अवाच्य और अनिर्वचनीय है। उपनिषद् ने इस बात का स्पष्ट भाषा मे उपदेश किया है :—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।—तैत्ति, २।४-१
मन समेत वाणी जिसको न पाकर लौट आती है।
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
—मुण्डक, ३।१।८

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।—कठ, ३।१२

वह चक्षु से ग्राह्य नहीं है, वाणी से ग्राह्य नहीं है, इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है, वह तपस्या अथवा कर्म से भी ग्राह्य नहीं है।

वाणी, मन और चक्षु—किसी की सहायता से उसको प्राप्त नहीं किया जा सकता।

श्रीशङ्कराचार्य इस संबन्ध में एक प्राचीन आख्यायिका का उल्लेख करके कहते हैं कि पहले समय मे महर्षि वाध्व मे जब वाष्कलि ने बार बार ब्रह्म के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया तब उन्होंने मौनी रहकर अवचन द्वारा ही ब्रह्म का निर्देश किया। क्योंकि यहाँ पर मौन रहना ही ठीक-ठीक निर्वचन है।

वाष्कलिना च वाध्वः पृष्टः सन् अवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाच इति श्रूयते। स होवाच अधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव, तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु ना नासि उपशान्तोऽयमात्मा।*

ब्रह्मसूत्र का शाङ्कर भाष्य ३।२।१७

ब्रह्म न केवल अवाच्य ही है वल्कि वह अज्ञेय (unknowable) भी है।

मन के द्वारा जिसका मनन नहीं किया जाता वही ब्रह्म है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति न मनो
न विद्मो न विजानीयो यथैतदनुशिष्यात्।—केन, ३

वहाँ चक्षु नहीं जा सकता, वाणी नहीं जा सकती, मन नहीं जा सकता, बुद्धि नहीं जा सकती, उसे हम नहीं जानते। भला उसका उपदेश किस तरह किया जाय ?

इसी लिये उपनिषद् स्पष्ट भाषा में कहते हैं—

अन्यदेव तद् विदिताद्, अथो अविदिताद् अधि।

अर्थात् ब्रह्म विदित नहीं है—उसे अविदित भी नहीं कह सकते। इस पहेली की भाषा को तनिक और निविड़ करके केन उपनिषद् ने कहा है—

---

* महाकवि गेटे का इसी आशय का एक वाक्य हमारे विशेष ध्यान देने योग्य है—

Who dare express Him ?
And who profess Him ?
Who, feeling, seeing,
Deny His Being ?

Goethe's Faust Part I. Scene xvi.

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

—केन, २।३

जो (ब्रह्म को) नहीं जानते हैं वही तो जानते हैं, और जो जानते हैं वे नहीं जानते। जो जानते हैं उनके लिए ब्रह्म अज्ञात है; और जो नहीं जानते हैं, उनके लिए ब्रह्म ज्ञात है।

तो ब्रह्म क्यों अज्ञेय है? इसका उत्तर दो प्रकार का है। प्रथम उत्तर यह है कि ब्रह्म जब शाश्वत विषयी (Eternal Subject) है तब वह किसी दिन का विषय Object) नहीं हो सकता।

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।

—बृह, २।४।१४

जिसके द्वारा यह सब ज्ञात होता है उसे किस तरह ज्ञात करोगे? जो ज्ञाता (जो द्रष्टा, साक्षिमात्र) है उसे किस तरह जानोगे?

ब्रह्म शाश्वत विषयी है, वह किसी दिन का विषय नहीं हो सकता। इस बात का उपदेश उपनिषद् ने इस प्रकार किया है—

तद्वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यद् अतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ ।

—बृह, ३।८।११

हे गार्गि! वह अक्षर (ब्रह्म) अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है, अश्रुत होकर भी श्रोता है, अमत होकर भी मन्ता है और अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है। उसके सिवा न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न मन्ता है और न विज्ञाता है।

इसी बात का उपदेश उपनिषद् ने दूसरी तरह से, ब्रह्म को चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, वाक् का वाक्, मन का मन और प्राण का प्राण कहकर, दिया है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ। प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षु । —केन, २।

साराश यह कि जो दृष्टि का द्रष्टा, श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता और विज्ञानि का विज्ञाता है उसे किस तरह जानोगे ?

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुते श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञाते विज्ञातारं विजानीथा ।—बृह, ३।४।२

अतएव जो ब्रह्म एकमात्र द्रष्टा और एकमात्र शाश्वत विषयी (Subject) है वह कभी दृश्य, सीमित विषय (Object) नहीं हो सकता। वह तो अज्ञेय है।

ब्रह्म क्यों अज्ञेय है ? इस प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि वह जब निरुपाधि अर्थात् देश-काल-निमित्तात्मक त्रिविध उपाधि से निर्मुक्त (Free from the three categories of time, space and casuality) है तब वह कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने ठीक ही कहा है—To think is to condition, to distinguish object and bring them into relation with one another अर्थात् किसी वस्तु को मनन का विषय बनाने के लिए उसे उपाधि द्वारा उपहित करना पड़ता है। वह उपाधि देश, काल और निमित्त भेद से त्रिविध है। जिस वस्तु को इस त्रिविध उपाधि के सम्बन्ध द्वारा सापेक्ष, सम्बन्ध-युक्त नहीं किया जा सकता वह कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। ब्रह्म जब निरुपाधि है तब वह अवश्य ही देशातीत, कालातीत और निमित्तातीत है।

ब्रह्म को ज्यों ही अनन्त कहा गया त्योंही समझना होगा कि वह निष्कल (partless) अर्थात् देशातीत है।

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीदेकोऽनन्त प्रागनन्तो दक्षिणतोऽनन्तः प्रतीच्यनन्त उदीच्यनन्त ऊर्द्ध्वं च अवाक् च सर्व्वतोऽनन्त।—मैत्री, ६।१७

अर्थात् ब्रह्म एक और अनन्त है। वह पूर्व में अनन्त, पश्चिम में अनन्त, दक्षिण में अनन्त, उत्तर में अनन्त, ऊपर की ओर अनन्त, नीचे की ओर अनन्त और सब ओर अनन्त है।

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व्वम्। छा० ७।२।५।१

वह नीचे, वह ऊपर, वह पीछे, वह आगे, वह दाहने, वह बाँये और वही यह सब कुछ है।

ब्रह्म को जब अनादि और सनातन कहा जाता है तब उससे यह समझा जाता है कि वह काल से भी परे है।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्।—कठ, ३।१५

गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।—कठ ५।५

अर्थात् पाश्चात्य दर्शन की भाषा में जिसको Eternal Now कहा जाता है वही वस्तु ब्रह्म है। इसी लिए कहते हैं कि वह 'अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' है (कठ, २।१४)। साराश यह है कि वह 'परः त्रिकालात्' अर्थात् काल से अतीत है।

ब्रह्म जिस प्रकार देश-काल से अतीत है उसी प्रकार वह निमित्त से भी परे है। और जो निमित्त से परे है उसमें भला विकार कैसे हो सकता है? ब्रह्म निर्विकार है।

अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।—कठ, २।१४

इसी से उसको ध्रुव, शाश्वत, नित्य और पुराण कहा जाता है।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।—कठ, २।१८

अर्थात् वह नित्य, शाश्वत और पुराण है। वह कूटस्थ, अजर, अमर और अक्षर है।

तदेतद् अक्षरं ब्राह्मणा विविदिषन्ति।—बृहदारण्यक

साराश यह कि वह निमित्त से अतीत है। अतएव ब्रह्म जब निरुपाधि है तब वह अवश्य ही अज्ञेय है।

किन्तु यह अज्ञेयवाद (Agnosticism वेदान्त की अन्तिम बात नहीं है। उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म के निर्विशेष, निरुपाधि निर्विकल्प विभाव Aspect) के सिवा एक और सविशेष सोपाधि सगुण भाव है। श्रीशङ्कराचार्य ने स्वय इस बात को स्वीकार किया है—

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधिविवर्जितम्।

ब्रह्म के दो रूप बतलाये गये हैं—एक तो नामरूपभेदोपाधिविशिष्ट, और दूसरा उसके विपरीत, सारी उपाधियों से विवर्जित।

सन्ति उभयलिङ्गा· श्रुतयो ब्रह्मविषया·। सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकाम· सर्व्वगन्ध सर्व्वरस इत्येवमाद्या· सविशेषलिङ्गाः अस्थूलमनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् इत्येवमाद्याश्च निर्व्विशेषलिङ्गा·।

अर्थात् ब्रह्म के विषय मे दो प्रकार की श्रुतियाँ देख पड़ती हैं। एक सविशेषलिङ्ग श्रुति, जैसे, 'वह न तो सर्व्वकर्म्मा, सर्व्वकाम, सर्व्वगन्ध, सर्व्वरस है' इत्यादि। दूसरी निर्व्विशेषलिङ्ग श्रुति, जैसे, 'वह न तो स्थूल है और न सूक्ष्म, न वह नाटा है और न लम्बा' इत्यादि।

किन्तु इस प्रसङ्ग मे हमे श्रीशङ्कराचार्य की उक्ति के भरोसे रहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उपनिषद् ने स्वय इस सम्बन्ध में स्पष्ट उपदेश दिया है—

एतद् वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म।—प्रश्न, ५।२

हे सत्यकाम! यह ब्रह्म पर भी है और अपर भी।

द्वे परब्रह्मणी अभिधेये, शब्दश्च अशब्दश्च शब्दब्रह्म परञ्च यत्।

—मैत्री, ६।२२

द्विविध परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए—शब्द और अशब्द का, शब्दब्रह्म और परब्रह्म का।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तञ्च, मर्त्यम् चामृतञ्च,
स्थितञ्च यत् च, सत् च त्यत् च।—बृह, २।३।१

ब्रह्म दो प्रकार का है—मूर्त्त और अमूर्त्त, मर्त्य और अमृत, स्थिर और अस्थिर, सत् और त्यत्।

द्वे वाव खल्वेते ब्रह्मज्योतिषो रूपके।—मैत्रायणी, ६।३६

ब्रह्मज्योति के दो प्रकार के रूप हैं।

यह जो निर्गुण ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्म का जो निर्विशेष भाव है उसका निर्देश उपनिषद् 'तत्' शब्द द्वारा करता है। और जो सगुण ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म का जो सविशेष भाव है वह 'स' शब्द द्वारा निर्दिष्ट होता है। क्योंकि इस सविशेष और निर्विशेष भाव का भेद दिखलाने के लिए उपनिषद् एक सुपरिचित व्याकरण-छल का प्रयोग करता है, अर्थात् निर्विशेष भाव के निर्देशस्थल मे तो नपुसक लिङ्ग का और सविशेष भाव के निर्देश स्थान पर पुलिङ्ग का प्रयोग करता है। 'अस्थूल अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम्'—यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म का निर्देश है, अतएव नपुसकलिङ्गी प्रयोग है, और 'सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकाम. सर्व्व-गन्ध. सर्व्वरस' मे सविशेष ब्रह्म का निर्देश है, अतएव पुलिङ्ग का प्रयोग है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पर और अपर ब्रह्म एक ही वस्तु है—निर्गुण और सगुण मे, निर्विशेष और सविशेष मे सिर्फ भाव का प्रभेद है, वास्तव मे कुछ भी भेद नहीं है। इसी से जान पडता है कि उपनिषद् ने कहीं-कहीं पर एक ही मन्त्र मे पुलिङ्ग और नपुसक लिङ्ग दोनो का प्रयोग किया है। यथा—

'यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षु.श्रोत्रम तद् अपाणिपादम्'। यहाँ तक निर्विशेष ब्रह्म का निर्देश है, अतएव नपुसक लिङ्ग का प्रयोग है। 'नित्य विभु सर्व्वगत सुसूक्ष्म तद् अव्यय यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा.॥' यह सविशेष ब्रह्म का निर्देश है, इसलिए पुलिङ्ग का प्रयोग है—मुण्डक, १।१।६

'स पर्य्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्' यह निर्विशेष का लक्षण है, इसलिए नपुंसक लिङ्ग है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'— यह सविशेष का लक्षण है, इसलिए पुलिङ्ग है।—ईश, ८।

शास्त्र में अन्य स्थान पर भी इस बात का उपदेश है कि निर्गुण और सगुण एक ही वस्तु है—

सगुणो निर्गुणो विष्णुः।

विष्णु सगुण हैं तो निर्गुण भी हैं।

लीलया वापि युञ्जेरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः।—भागवत, ३।७।२

लीला के वश होकर निर्गुण ब्रह्म गुण और क्रिया से युक्त हो जाता है।

सर्व्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्।—भाग० ७।६।४८

हे सर्वव्यापिन्, तुम्हीं सगुण हो और तुम्हीं निर्गुण। तुम सब कुछ हो।

सदक्षरं ब्रह्म य ईश्वरः पुमान्
गुणोर्मिसृष्टिस्थितिकालसंलयः।—१।१।२

जो प्रकृति की क्षोभजनित सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतुभूत पुरुष—ईश्वर है वही सत्, अक्षर ब्रह्म है।

इस सम्बन्ध में भागवत में अन्यत्र यह कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते १।२।११

उस अद्वितीय चित् वस्तु को तत्त्वज्ञानी लोग तत्त्व आख्या प्रदान करते हैं। वही ब्रह्म, वही परमात्मा और वही भगवान् (सगुण ब्रह्म या महेश्वर) है।

निर्गुण ब्रह्म किस तरह सगुण हो जाता है, ब्रह्म का निर्विशेष भाव किस प्रकार सविशेष भाव में बदल जाता है, इसका उत्तर उपनिषद् देता है—माया उपाधि अङ्गीकार करके।

मायिनन्तु महेश्वरम् ।—श्वेत, ४ । १०

सगुण ब्रह्म ही महेश्वर है, वही मायी अर्थात् माया-उपाधि-उपहित है। जिस तरह मकड़ी जाला तन कर उसमें अपने आप को घेर लेती है उसी तरह निर्गुण ब्रह्म अपने आप को मायाजाल में आवृत करके सगुण सोपाधि हो जाता है। माया मानो ब्रह्म की यवनिका है।

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभि· प्रधानजै·
स्वभावतो देव एक· स्वमावृणोत् ।—श्वेत, ६।१०

इसी भाव की बात भागवत पुराण ने कही है—

गृहीतमायोरुगुण सर्गादावगुण स्वतः ।—भागवत, २।६।२६

अर्थात् स्वय निर्गुण ब्रह्म माया-उपाधि अङ्गीकार करके सगुण हो जाता है। उस दशा में उसे महेश्वर कहते हैं।

तमीश्वराणा परम महेश्वरम् ।

'वही परम ईश्वर महेश्वर है।' वही सच्चिदानन्द है।

सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म

यह सगुण ब्रह्म के स्वरूप का लक्षण है। और उसे जो 'तज्जलान' कहा जाता है, यह उसका तटस्थ लक्षण है।

सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति ।—छान्दोग्य ३।१४।१

तज्जलान् का अर्थ है तज, तल्ल, तदन। उससे जगत् उत्पन्न है, उसी मे जगत् स्थित है, और उसी मे जगत् का लय हो जाता है। अर्थात् वह सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। वही स्रष्टा है, वही पालक है और वही सहारक है। उपनिषद् यही भाव बतलाता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

—तैत्तिरीय, ३।१

जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते-जागते हैं और अन्त समय में जिसमें विलीन हो जाते हैं—वही ब्रह्म है।

यह सगुण ब्रह्म या महेश्वर हमारे भजन करने की वस्तु है। इसीये उपनिषद् ने उसका "तद्वन" नाम रक्खा है। वह हमारी 'वनित'—भजन करने की चीज है। वह 'संयद् वाम' अर्थात् प्रेमास्पद है। वह 'वामनी' अर्थात् प्राणाराम (Lord of Love) है। वह रसस्वरूप है—रसो वै स.। वह विधाता, जीव का कर्म-फल-दाता है।

स वा एष महान् आत्मा वसुदानः।—बृह, ४।४।२४

वह धर्मावह, पापनुद् भगवान् है।

धर्म्मावहं पापनुदं भगेशम्।—श्वेत, ६।६

वह जगत् का सेतुस्वरूप और सब लोक की मर्यादा की विधृति है।

अथ य आत्मा स सेतु विधृतिरेषा लोकाना असम्भेदाय।

—छां० ८।४।१

उसके सम्बन्ध में उपनिषद् ने अनेकानेक सुन्दर और गम्भीर मन्त्रों की रचना की है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुष महान्तम्।—श्वेताश्वतर, ३।१६

उसके हाथ नहीं, किन्तु ग्रहण करता है, पैर नहीं, किन्तु चलता-फिरता है, आँखे नहीं, किन्तु देखता है और कान न होने पर भी सुनता है। वह सर्वज्ञ है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। उसी को महान् पुरुष कहते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्—कठ, ५।१३

वह नित्य का नित्य और चेतन का चेतन हे।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।—कठ, २।२

वह अणु से भी छोटा है और महत् से भी बडा है।

एप सर्व्वेश्वर, एप भूताधिपतिरेप भूतपाल एप सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।—बृहदारण्यक, ४।४।२२

यह सर्व्वेश्वर, यह भूताधिपति और यही भूतपाल है, यह लोकों का विभाजक और धारक सेतु है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रै· द्यावाभूमी जनयन्देव एक ॥

—श्वेताश्वतर, ३।३

उसके सब तरफ आँखें हैं, सब तरफ मुँह हैं, सब तरफ बाहु हैं और सब ओर उसकी गति है, उसने मनुष्य को भुजाओ से युक्त और पक्षी को पक्षयुक्त किया है, उसने आकाश और पृथिवी को बनाया है, वह अद्वितीय है।

सर्व्वत पाणिपादं तत्सर्व्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्व्वत· श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्व्वेन्द्रियगुणाभास सर्व्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
सर्व्वस्य प्रभुमीशानं सर्व्वस्य शरण बृहत् ॥

—श्वेताश्वतर, ३।१६-१७

उसके सर्वत्र हाथ-पैर हैं, सर्वत्र सिर और आँखें हैं, सब तरफ कान और मुँह हैं। वह सब को व्याप्त किये हुए है।

उसके एक भी इन्द्रिय नहीं है, फिर भी वह सारी इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। वह सब का प्रभु, महेश्वर, और सब का बृहत् शरण है।

ब्रह्म का यह सविशेष भाव अज्ञेय नहीं है, सगुण ब्रह्म या महेश्वर यद्यपि साधारण मन-बुद्धि से अगोचर है फिर भी वह शुद्ध मन, दिव्य बुद्धि और योग समाधि के द्वारा वेद्य है।

एव सर्व्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

—कठ, ३।१२

यह आत्मा सब प्राणियों मे प्रच्छन्न है, प्रकट नहीं होता, किन्तु सूक्ष्मदर्शी लोग इसे सूक्ष्म सुतीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा देखा करते हैं ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति ॥—कठ, २।१२

अध्यात्म योग अधिगत होने पर, देव को जानकर, धीर व्यक्ति सुख-दु.ख के पार हो जाते हैं ।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।—कठ, ६।६

हृदय की मननशील बुद्धि के द्वारा उसको जाना जाता है । जो लोग यह जानते हैं वे अमर होते हैं ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्व
स्तुनन्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान· ॥

—मुण्डक, ३।१।८

ज्ञानप्रसाद से विशुद्धचित्त (साधक) ध्यानयोग द्वारा निष्कल (अखण्ड) परमात्मा के दर्शन करता है ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥—कठ, ४। १

'स्वयम्भू' (भगवान्) ने इन्द्रियो को बहिर्मुख कर दिया है । इसलिए जीव बहिर्विषयो को तो देख लेता हैं, किन्तु अन्तरात्मा को

नहीं देख पाता। हाँ, कोई धीर व्यक्ति अमरत्व की इच्छा करके आवृत्त चक्षु होकर (वहिर्विषय से इन्द्रियो को लौटाकर) प्रत्यगात्मा के दर्शन करता है।

शङ्का हो सकती है कि एक ही ब्रह्म का, एकाधार में, सगुण और निर्गुण तथा सविशेष और निर्विशेष होना किस प्रकार सम्भव है। इसका उत्तर यह है कि बुद्धि के द्वारा यद्यपि इस समस्या का समाधान नहीं होता, किन्तु बुद्धि के ऊपर जो बोधि है, intellect के ऊपर जो Intuition है, उस बोधि के आगे यह अगम्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में समस्त द्वन्द्वो का चिरसमन्वय है। * इसी लिए उपनिषद् में देखा जाता है कि ब्रह्म मे सारे विरुद्ध धर्मों का आरोप किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए—उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म अणु से भी छोटा और महान् से भी बडा है, अणोरणीयान् महतो महीयान्। वह—

अणीयान् व्रीहेर्वा यवात् वा सर्षपात् वा श्यामाकात् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा * * * ज्यायान् दिवो ज्यायान् एभ्यो लोकेभ्य।

—छान्दोग्य, ३। १४। ३

व्रीहि की अपेक्षा, जौ की अपेक्षा, सरसो की अपेक्षा और श्यामाक-तण्डुल की अपेक्षा छोटा है। यह हमारा आत्मा अन्तर्हृदय में स्थित है। यह पृथिवी की अपेक्षा, अन्तरिक्ष की अपेक्षा, दिव की अपेक्षा और सारे भुवन की अपेक्षा बडा है।

फिर कहा गया है कि वह निमेष और कल्प है अर्थात् क्षणिक और निरन्तन है।

निमेष एक. क कल्प क. कल्पोऽपि निमेषकः।

यह बात समझाने के लिए उपनिषद् ने कहा है कि वह मानो बिजली का चमकना और आँख की पलक का गिरना है।

यदेतद् विद्युतो वाद्युतद् आ न्यमीमिषद् आ—केन, ४। ४

* वह Supreme unity of all contradictions है।

और यह बात भी कही गई है कि—

यस्माद् अर्वाक् संवत्सरः अहोभिः परिवर्त्तते ।—बृह, ४।४।१६

जिसे स्पर्श किये बिना संवत्सर, दिन समेत, परिवर्त्तित होता है।

उपनिषद् ने और भी कहा है कि वह दूर है और पास भी है, वह भीतर है और बाहर भी है, वह चल भी है और अचल भी, इत्यादि।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥—कठ, २।२१
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्व्वमर्षत्
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके,
तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य बाह्यतः ॥—ईश, ४।५,

उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है—वह देव सहर्ष और अहर्ष है, वह बैठा-बैठा भी दूर चला जाता है और लेटा हुआ भी सब जगह भ्रमण करता है।

वह अचल होकर भी मन से भी अधिक वेगवान् है; उसमें गति नहीं, फिर भी वह सब से पहले गम्य स्थान में पहुँच जाता है। वह स्थिर रहकर भी सब गतिशीलों के आगे चलता है। मातरिश्वा (प्राण) उसमें अप् (कारणार्णव) को निहित करते हैं।

वह चल होकर भी अचल है, वह दूर रहने पर भी समीप है; वह सबके अन्तर में है और बाहर भी।

अतएव ब्रह्म को, एक ही आधार में, सगुण और निर्गुण, सविशेष और निर्विशेष, सोपाधि और निरुपाधि तथा सविकल्प और निर्विकल्प बतलाकर उपनिषद् ने सब विरुद्ध धर्मों के समन्वय का विधान किया है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि सगुण और निर्गुण, सविशेष और निर्विशेष कुछ तत्त्वान्तर नहीं हैं, एक ही ब्रह्म का भावान्तरमात्र है।

तृतीय अध्याय

ब्रह्म और जगत्

द्वितीय अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप की आलोचना हो चुकी है। अब इस अध्याय में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध पर विचार किया जायगा।

हमने देख लिया है कि जो सगुण ब्रह्म वा महेश्वर है वही तज्जलान् है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्।—छान्दोग्य

तज्जलान्—तज्ज, तल्ल, तदन अर्थात् उससे जगत् जात (उत्पन्न) है, उसके द्वारा जगत् स्थित है और उसी में जगत् लीन होता है। अर्थात् जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करने वाला वही है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इसी आशय का कथन है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित हैं और अन्त में जिसमें सब विलीन हो जायँगे वही ब्रह्म है। इसी से उपनिषद् ने कहा है—

यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्—श्वेता।

एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्—माण्डूक्य।

ब्रह्म ही सब की योनि है, सब प्राणियों की उत्पत्ति इसी से होती है और इसी में सब का प्रलय हो जाता है।

मकड़ी जिस प्रकार अपने भीतर से जाला तनती है और फिर उसको अपने भीतर समेट लेती है वही काम इस विश्व के सम्बन्ध में ब्रह्म करता है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च * *
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् —मुण्डक।

न केवल उत्पत्ति और प्रलय ही, बल्कि जगत् की स्थिति भी उसी के द्वारा होती है। जगत् को उत्पन्न करके उसकी मर्यादा का विधान ब्रह्म ने ही किया है।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः
एषां लोकानामसम्भेदाय।—छा० ८।४।१

वह परमात्मा सेतुस्वरूप है, वह सारे लोक की मर्यादा की विधृति है।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।—ईश, ८।

उसने सदा के लिए सब की ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी है।

इसी लिए, विज्ञान की भाषा में, नियम की नित्यता (Uniformity of nature) है। वही ऋतमार्ग पर जगत् को परिचालित करता है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः इत्यादि
—बृहदारण्यक, ३।८।६

हे गार्गि! इसी के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र विधृत बने हुए हैं; इस अक्षर पुरुष के प्रशासन में स्वर्ग और मर्त्य विधृत बने हुए हैं, इत्यादि।

उसके डर से वायु चलती है, सूर्य उदय होता है, अग्नि, इन्द्र और यम अपना-अपना काम करते रहते हैं।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥—तैत्ति, २।८

जगत् के सृष्टि-प्रलय-कार्य को देखकर उपनिषद् और भी कहता है कि समुद्र से जिस प्रकार बुलबुला पैदा होता है और फिर वह समुद्र में ही विला जाता है-उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता और ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा।
नश्यन्ते व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥—चूलिका।

इसी की प्रतिध्वनि करके भक्त कवि विद्यापति ने गाया है—

कतो चतुरानन मरि मरि जावत
न तुवा आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुन, तोहे समायत
सागर लहरी समाना॥

वह बीज है—जगत् तो उससे उपजा हुआ वृक्ष है।

एकं बीजं बहुधा यः करोति—श्वेत।

इसी से गीता में भगवान् ने कहा है कि वही समस्त प्राणियों (भूतों) का सनातन बीज है।

बीजं मां सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम्।

इस जगत् को लक्ष्य करके उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि यह संसार एक पीपल का पेड़ है। इसकी जड़ ऊपर की ओर—ब्रह्म से है।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।—कठ

यह सृष्टि और प्रलय पर्याय-नियम (Law of rhythm) के अधीन है। सृष्टि के बाद प्रलय होता है और प्रलय के बाद सृष्टि होती है, फिर प्रलय और फिर सृष्टि—इस प्रवाह रूप से सृष्टि और प्रलय आदि-अन्त-हीन है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

गीता से बहुत पहले ऋग्वेद के ऋषि ने इस पर्याय के नियम को लक्ष्य करके कहा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

विधाता ने पिछले कल्पों की भाँति इस कल्प में भी चन्द्र और सूर्य को बनाया।

इस समय जो कल्प चल रहा है उसके पहले अन्य कल्प था, उसके भी पहले और-और कल्प थे। इसके बाद और कल्प होगा। उसके भी बाद और-और कल्प होंगे। इसके पहले प्रलय की दशा थी और इस कल्प की जो सृष्टि है इसके बाद भी प्रलय की दशा आ जायगी। इस प्रकार प्रलय सृष्टि, सृष्टि-प्रलय—यही सिलसिला अनादि अनन्त काल तक पर्याय से चल रहा है और चलेगा। प्रलय की दशा में जगत् ब्रह्म में लीन रहता है—अव्यक्त (Latent) हो जाता है।

'तम' परे देवे एकीभवति

तम शब्दवाच्यायाः प्रकृतेः परमात्मनि एकीभावश्रवणात्।

—रामानुज

इसी को अव्याकृत (Unmanifested) कहते हैं।

तद्धेद तर्हि अव्याकृतं आसीत्—बृहदारण्यक।

प्रलय की इस एकाकार दशा को लक्ष्य करके उपनिषद् ने कहा है—

सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।

आत्मा वा इदमेव अग्र आसीत् नान्यत किञ्चन मिषत्॥

अर्थात् उस प्रलय की दशा में एक परमात्मा के सिवा और कुछ भी नहीं था, केवल वही "एकमेवाद्वितीयम्" सत् ब्रह्म था। यह जो सत् है इसे वास्तव में सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी से ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है—

नासद् आसीत् तदानीं नो सद् आसीत् तदानीम्।

उस प्रलय की अवस्था में न तो सत् था और न असत्। आकाश, व्योम, चन्द्र और सूर्य भी नहीं थे।

नासीद् रजो न व्योम परो यत्।

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे॥

केवल तमस् के द्वारा निगूढ तम था, और थी ब्रह्म में विलीन एकीभूत अव्यक्त अव्याकृत प्रकृति।

पुराण की भाषा मे इस अव्याकृत को कारणार्णव* कहते हैं—इसका वैदिक नाम अप् है।

प्रलय जब सृष्टि के उन्मुख होता है, प्रलय की दशा का जब अवसानकाल उपस्थित होता है तब उसका प्रथम मुहूर्त (जिसे पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे Moment कहते हैं) क्या है? प्रथम मुहूर्त है ब्रह्म की सिसृक्षा। सिसृक्षा का अर्थ है सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा। इस प्रथम मुहूर्त को लक्ष्य करके ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि

मनसोरेत प्रथमं यदासीत्।

इसकी प्रतिध्वनि करके उपनिषद् ने कहा है—

स अकामयत बहु' स्या प्रजायेय—तैत्ति०।

तत् ऐक्षत बहु स्या प्रजायेय—छान्दोग्य।

यह इच्छा, काम अथवा कामना ब्रह्म की सिसृक्षा के सिवा और कुछ नहीं है। तब क्या हुआ? उपनिषद् कहता है—

स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगद् आविर्भावयति।

तब ब्रह्म ने अपने भीतर विलीन जगत् का आविर्भाव कराया। अर्थात् असत् से जगत् की सृष्टि नहीं की, क्योंकि जिसे (Creation

---

* कारणार्णव है Sea of cosmic matter आधुनिक विज्ञान की भाषा मे इसका नाम Protyle है—यही हम लोगों की प्राचीन 'प्रकृति' है।

ex nihilo) कहते हैं, वह असत् से सत् की उत्पत्ति असम्भव है* –किन्तु अपने भीतर जो जगत् अव्यक्त था उसका व्यक्त विधान कर दिया। इसी लिए गीता में कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

अर्थात् सृष्टि में अव्यक्त से सब कुछ व्यक्त हो जाता है—Latent से Patent होता है, फिर प्रलय मे सारा व्यक्त अव्यक्त में विलीन हो जाता है—Patent जो था, वह Latent हो जाता है। पुराण की भाषा में इस सृष्टि और प्रलय को ब्रह्मा का दिन और रात कहते हैं। ब्रह्मा के दिन में सृष्टि का आविर्भाव होता है और ब्रह्मा की रात के समय सृष्टि का तिरोभाव हो जाता है। अतएव सृष्टि का अर्थ Creation नहीं है, Emergence (आविर्भाव) है।

यह जो ब्रह्म ने 'स्वस्मिन् विलीन गत' का आविर्भाव कराया, अव्यक्त का व्यक्तिविधान किया, यही सृष्टि का द्वितीय मुहूर्त है। इस द्वितीय मुहूर्त में जिसका आविर्भाव हुआ उसे दर्शन की भाषा में प्रकृति या प्रधान कहते हैं। प्रकृति है अविशेष (Homogeneous), अव्याकृत, अप्राकृत। इस अविशेष से क्रमश: विशेष का आरम्भ होता है†। इस अविशेष प्रकृति का वैदिक नाम सलिल या अप् है।

---

* इसी लिए सांख्यवादी कहते हैं—नासद् उत्पद्यते न सद् विनश्यति। श्रीशङ्कराचार्य ने इसका अनुमोदन करके लिखा है :—

तथैवं सति नासत उत्पत्तिः न सतो विनाशः कार्य्यस्य इत्यवधृतं भवति।

गीता का भी यही उपदेश है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।

† अविशेषाद् विशेषारम्भः—सांख्यसूत्र। पाश्चात्यों का भी कहना है—From the homogeneous to the heterogeneous.

अप्रकेतं सलिलं सर्व्वमा इदम्—ऋग्वेद
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान—ऋग्वेद

उसने दीप्तिमान् बृहत् अप् को उत्पन्न किया। मनुस्मृति में भी हमें यही बात सुनाई देती है—

अप एव स सर्जादौ।

पहले भगवान् ने अप् को ही उत्पन्न किया। इस अप्रकेत (Undifferentiated) सलिल को कहीं-कहीं पर उपनिषद् में 'अदिति' कहा गया है—

या प्राणेन सम्भवाते अदितिर्देवतामयी।

अदिति का अर्थ है जिसकी दिति नहीं है, जो निरवयव continuum है। उपनिषद् में इसका एक और नाम अन्न है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।

तप के द्वारा ब्रह्म स्फीत होता है, उससे 'अन्न' उत्पन्न होता है। व्यक्त जगत् में अन्न और अन्नाद, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, matter और spirit के सिवा और कुछ भी नहीं है।

एतावत् वा इदं सर्व्वम् अन्नञ्चैव अन्नादश्च—बृहदारण्यक।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥—गीता

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जगत् में स्थावर-जङ्गम जो कुछ है उस सब को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों के संयोग से समझो।

अस्तु। यह मालूम हो गया कि सृष्टि के प्रथम मुहूर्त्त में ब्रह्म की सिसृक्षा है और द्वितीय मुहूर्त्त में अप् की सृष्टि हुई—ब्रह्म में विलीन जगत् का आविर्भाव, अप्रकेत सलिल का प्रकाश हुआ। तो सृष्टि का तृतीय मुहूर्त्त क्या है? सृष्टि के तृतीय मुहूर्त्त में ब्रह्म का अनुप्रवेश होना है।

स तपस्तप्त्वा इदं सर्व्वं असृजत यदि किञ्च ।
तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—तैत्ति० ।

उसने तपस्या करके इस सब को उत्पन्न किया। जगत् को उत्पन्न करके वह उसके भीतर अनुप्रविष्ट हुआ।

सोऽमन्यत एतासां प्रतिबोधनाय अभ्यन्तरं विविशामि
स वायुरिव आत्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत् ।—मैत्री, २।६

उसने सोचा कि इनका बोधन करने के लिए प्रवेश करूँ। वह वायु की तरह बनकर प्रविष्ट हो गया। जगत् ने उसे ढक लिया, वह मानो ससार के भीतर छिप गया।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।—श्वेत, १।३

महेश्वर की शक्ति स्वगुण में निगूढ़ हो गई।

स एष इह प्रविष्ट. । आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः
क्षुरधाने अवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा
विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यति—बृह, १।४।७

वह जगत् मे प्रविष्ट हो गया। नखाग्र तक अनुप्रविष्ट हो गया—छुरा जिस तरह अपनी पेटी मे चला जाता है, आग जिस तरह अरणी मे छिपी रहती है। उसे किसी ने देख नहीं पाया।

वह मानों ससार में खो गया। पानी में जिस तरह नमक की डली घुलकर मिल जाती है उसी तरह मानों वह खो गया। वह खोजने पर भी न मिला।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेव अनुविलीयते
न हास्याद् ग्रहणायेव स्यात्—बृह, २।४।१२

इसी भाव को लक्ष्य करके श्वेताश्वतर ने कहा है—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतो देव एक· स्वमावृणोत् ।—६।१०

मकडी जिस तरह जाला तन कर अपने को घेर लेती है उसी तरह उसने प्राकृतिक जगत्‌जाल मे अपने आपको आवृत कर लिया।

उपनिषद् के ऋषि यदि यहीं तक कहकर चुप हो जाते तो उनका उपदेश अपूर्ण ही रह जाता—पाश्चात्य लोग जिसे Pantheism कहते हैं उसी के अनुरूप उनकी शिक्षा होती। दूध जिस तरह दही के रूप मे विकृत हो जाता है, मेघ जिस तरह वृष्टि मे परिणत हो जाता है उसी तरह क्या ब्रह्म खो गया? जिस तरह दही बन जाने पर फिर दूध नही रहता, वृष्टि हो जाने पर फिर मेघ नहीं रह जाता, उसी तरह ब्रह्म जब जगत् बन गया तब फिर क्या ब्रह्म नही रह गया? वह क्या ससार में निःशेष हो गया?

उपनिषद् कहता है कि यह बात नही है, क्योंकि ब्रह्म तो विश्वानुग और विश्वातिग भी है—वह जगत् के भीतर भी है और बाहर भी।

तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य बाह्यतः।—ईश ५
भूतेपु चरति प्रविष्टः। स भूतानामधिपतिर्बभूव।
इत्यसौ आत्मा आन्तर्बहिश्च अन्तर्बहिश्च।—मैत्री ५।२

वह भूत के भीतर प्रविष्ट हुआ, वह भूत का अधिपति हुआ। वही परमात्मा भूत के भीतर भी है और बाहर भी।

गीता ने भी कहा है,—

बहिरन्तश्च भूतानाम्।—गीता, १३।१५

ईश्वर भूत के भीतर भी है और बाहर भी।

इसी लिए तैत्तिरीय उपनिषद् ने जगत् मे ब्रह्म के अनुप्रवेश करने का वर्णन करके एक ही साँस मे कह दिया है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तद् अनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्। निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च निलयनञ्च अनिलयनञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च।—तैत्ति० २।६

अर्थात् ब्रह्म जगत् में अनुप्रविष्ट होकर विश्वानुग हुआ सही, किन्तु साथ ही साथ वह विश्वातिग बना रहा। इसलिए ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में कहा गया है—

स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आवरण करके ईश्वर दस अङ्गुल अधिक रहा।

यही बात दूसरे ढङ्ग से पुरुषसूक्त में फिर भी कही गई है—

एतावान् अस्य महिमा अतोज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

इसका महत्व इतना है। किन्तु पुरुष (परमेश्वर) इससे भी बृहत् है। उसके चौथे हिस्से में सारा विश्व—और तीन हिस्सों में विश्वातिग, अमृत है।

छान्दोग्य उपनिषद् ने इसी की प्रतिध्वनि करके कहा है,—

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्व्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति।
यद् वैतद् ब्रह्मेति इदं वाव तत्।—छा० ३।१२।६, ७

गीता का भी यही उपदेश है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्।—गीता, १०।४२

मैं एकांश द्वारा सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ।

नारायण उपनिषद् में भी यही भाव है—

यच्च किञ्चित् जगत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

—१३ अनुव

जगत् में जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सब के भीतर नारायण व्याप्त है, और वह उस सब के बाहर भी विद्यमान है।

इसी लिए वेदान्ती लोग कहा करते हैं कि परब्रह्म के छठे अंश में माया है। सच तो यह है कि निरंश ब्रह्म की अंश-कल्पना केवल समझने की सुविधा के लिए है। सारांश यह कि परब्रह्म के माया-उपहित होने पर भी—प्रपञ्च की ससीमता में उसकी असीमता निमज्जित नहीं होती—विश्वानुग होने पर भी वह विश्वातिग बना रहता है।

उपनिषद् का यह उपदेश है—

ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम्।

ब्रह्म एक और अद्वितीय है अर्थात् वह एक ही है, दूसरा नहीं है।

नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्।
यस्मात् परं नापरं अस्ति किञ्चित्।

ब्रह्म के सिवा और कोई दूसरा नहीं है।

स एवेदं सर्व्वम्

यह सब वही है—नेह नानास्ति किञ्चन।

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व्वम्। आत्मैव अधस्तात् आत्मा उपरिष्टात् आत्मा पश्चात् आत्मा पुरस्तात् आत्मा दक्षिणतः आत्मा उत्तरतः आत्मैवेदं सर्व्वम्।

छान्दोग्य ७।२५।१,२

वही नीचे, वही ऊपर, वही आगे, वही पीछे, वही बायें, वही दाहने और वही सब कुछ है। आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही सामने, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही दायें, आत्मा ही बायें है और जो कुछ भी है सब आत्मा ही है।

इसी लिए उपनिषद् ने अनेक स्थानों में कहा है—

सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म। ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्।
आत्मैवेदं सर्व्वम्।

अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म है। और यह विविध वैचिन्त्र्यमय विशाल जगत् प्रतिनियत हमें देख पडता है। न सिर्फ यह ब्रह्माण्ड ही, बल्कि ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मौजूद हैं।

उपनिषद् कहते हैं—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति * * * महाजलौघ मत्स्यबुद्बुदानन्त सङ्घवत् भ्रमन्ति।

अर्थात् हमारे इस ब्रह्माण्ड के चारो ओर ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड दीप्ति पा रहे हैं—महासमुद्र में जिस तरह असख्य मत्स्य बुद्बुद भ्रमण करते हैं उसी तरह महाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड परिभ्रमण करते हैं। इसकी प्रतिध्वनि करके पुराणकार ने कहा है—समुद्र की बालू के कण भले ही गिन लिये जायँ; किन्तु अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की गिनती कर लेना असम्भव है।

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।

यदि ऐसा ही हो—यदि विशाल विचित्र अनन्त कोटि विश्व विद्यमान हों तो फिर ब्रह्म अद्वितीय रहा किस तरह? तब फिर—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन—इन श्रुतिवाक्यो की सार्थकता कहाँ रही? इस समस्या का क्या समाधान है? इस विरोध का सामञ्जस्य क्या है? उपनिषद् ने इस समस्या का समाधान दो प्रकार से किया है। पहले कहा है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त्तमात्र है, वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है। फिर कहा है कि जगत् ब्रह्म का प्रकार अथवा भेद मात्र है।

जगत् को जब ब्रह्म का विवर्त्त कहा जाता है तब उसका उद्देश्य क्या है? उद्देश्य यह है कि ब्रह्म ही जगत् रूप में प्रतीत होता है। जैसे रस्सी मे साँप का धोखा होता है, सीप मे चाँदी का धोखा होता है, मरीचियों में मरीचिका का भ्रम होता है। इसी लिए वेदान्ती कहते हैं—

प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम् ।

अर्थात् यह चराचर विश्व वास्तविक नहीं है, यह तो प्रतीतिमात्र है । प्रतीति अर्थात् मानो है (As it were) ।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति ।

यत्र अन्यदिव स्यात् ।

य इह नाना इव पश्यति ।

अर्थात् मानो जगत् है, मानो द्वैत है, मानो द्वितीय है, मानो नाना है—अर्थात् द्वैत, द्वितीय वास्तविक नहीं है । केवल उसका भान होता है । इस 'इव' शब्द पर लक्ष्य देना आवश्यक है । जो 'इव' है—मानो है (As it were) वह मायामात्र है । इसी लिए उपनिषद् ने जगत् को मायामात्र कहा है ।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् ।—श्वेत, ४ । १०

जगत् यदि मायामात्र न होता तो उपनिषद् जगत् के सम्बन्ध में इव शब्द का प्रयोग न करते ।

येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतं अविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ।—छा, ६ । १ । ३

हे भगवन्, वह आदेश (रहस्य-उपदेश) क्या है, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है । अर्थात् ऐसी कोई वस्तु है, जिसको जान लेने से और कुछ अज्ञात नहीं रह जाता है । ऋषि ने दृष्टान्त द्वारा उसी वस्तु का उपदेश किया है ।

यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।—छा, ६ । १ । ४

यथा सौम्येकेन लोहमणिना सर्व्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।—छा, ६ । १ । ५

यथा सौम्येकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सौम्य स आदेशो भवतीति।—छा, ६।१।६

हे सौम्य! जिस तरह मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से सारी मृण्मय चीजे जान ली जाती हैं, क्योंकि वे सब मिट्टी के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाम मात्र की है, असल में मिट्टी ही सत्य है, जिस तरह सोने के टुकडे को जान लेने से कुल सोने की चीजें जान ली जाती हैं, क्योंकि वे सब सोने के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाममात्र की है, सिर्फ सोना ही सत्य है; जिस तरह एक लोहे के टुकड़े को जान लेने से सब लोहे की चीजें जान ली जाती हैं, क्योंकि वे लोहे के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाममात्र की है, लोहा ही सत्य है—हे सौम्य! उसी तरह यह आदेश भी है। अर्थात् यह विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् वाक्य की योजना है, नाम की रचना है और रूप की प्रस्तावना मात्र है।

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्—छा, ६।३।२

उसने जीवरूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप का भेद खडा कर दिया है।

तन्नामरूपाभ्यां व्यक्रियत—बृह, १।४।७

उसे नाम-रूप के द्वारा विभिन्न कर दिया।

आकाशो ह वै नामरूपयोर्निवहिता।—छा, ८।१४।१

आकाश नाम-रूप का निर्वाहक है।

ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् असत् है—मिथ्या है। जैसे सोने के कुण्डल, कडे और हार प्रभृति बाहरी दृष्टि से विभिन्न जान पडते हैं, किसी की कुण्डल की सूरत है, किसी की कड़े की, किसी का नाम कुण्डल है, किसी का कड़ा। किन्तु रसायन की दृष्टि से यह

केवल नाम-रूप का भ्रम है। वास्तव मे न तो कुण्डल है और न कड़ा, है केवल सोना। उसी तरह एक अद्वितीय ब्रह्म-वस्तु जगत् के आकार मे विवर्तित हो रहा है।

जगत् का यह जो विचित्र विषय-भेद—नदी, पहाड़, पेड़, लता, पशु, मनुष्य इत्यादि के रूप मे है, इसमे भी परस्पर नाम-रूप का ही प्रभेद है। वास्तव मे प्रभेद कुछ भी नहीं है। किसी का नाम नदी है, किसी का पहाड, किसी का रूप एक तरह का है, किसी का दूसरी तरह का। इतना होने पर भी वे सब ब्रह्म ही हैं। जिस प्रकार हार और कड़े में अनेक रूपों का भेद होने पर भी दोनो ही सुवर्ण हैं, उसी प्रकार जागतिक पदार्थों में नाम-रूपों का प्रभेद होते हुए भी सब कुछ ब्रह्म ही तो है।

यदि यही बात है, यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त है, यदि ब्रह्म ही जगत् रूप मे प्रतिभासित होता है, तब तो जगत्, जिसकी प्रतीतिमात्र है, उसे एक बार जान लेने से फिर जगत् का भान ही न रहेगा, जगत्-भ्रान्ति दूर हो जायगी।

यदा सर्वमात्मैवाभूत् विजानतः तदा कः केन पश्येत्—बृहदारण्यक

यत् तत्त्वं विदुषा निमीलति जगत् स्रग्भोगि-भोगोपमम्।

जब ब्रह्मज्ञ व्यक्ति को ब्रह्मदर्शन होता है तब वह और किसी के दर्शन नहीं करता।

जैसे रस्सी को जान लेने पर साँप का भ्रम हट जाता है वैसे ही ब्रह्म को जान लेने से जगत् की भ्रान्ति दूर हो जाती है। तब तत्त्वदर्शी सब कुछ को ब्रह्ममय देखता है—वह ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं देखता।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः—गीता॥

जो वास्तविक ज्ञानी है वह अनेक जन्मो के अन्त में, ज्ञानसिद्ध होने पर, सब जगह ब्रह्म के दर्शन करता है—उसके लिए फिर इस जगत् का भान नहीं रहता।

अन्यत्र उपनिषद् ने जागतिक पदार्थों को ब्रह्म का ही प्रकार या भेद (Mode) बतलाया है।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-मेवास्माद् आत्मनः सर्वप्राणा सर्वे लोका: सर्वे देवा: सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।—बृह, २ । १ । २०

जिस तरह मकड़ी से तन्तु निकलता है, जिस तरह आग से छोटी चिनगारी निकलती हैं, उसी तरह इस आत्मा से सब प्राण, सब लोक, सब भूत और सब वेद निकले हैं। इसी लिए ऐतरेय उपनिषद् ने कहा है—

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्व्वे देवा इमानि च पञ्चमहा-भूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्येतानीमानि च क्षुद्र मिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भि-जानि चाश्वा गाव: पुरुषा हस्तिनो यत् किञ्च प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम्। सर्व्वं तत् प्रज्ञानेत्र प्रज्ञाने प्रतिष्ठित प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।—ऐत, ५ । ६

यह ब्रह्मा, यह इन्द्र, यह प्रजापति, ये सब देवता, ये पञ्चमहाभूत, पृथिवी, वायु, आकाश, अप् और ज्योति, ये सब क्षुद्र मिश्रबीज, अण्डज जरायुज, स्वेदज, उद्भिज जीव, घोड़ा गाय पुरुष हाथी, सब प्राणी स्थावर, जङ्गम पक्षी सभी प्रज्ञानेत्र प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं। प्रज्ञा ही लोक का नेत्र है, प्रज्ञा ही प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

इसी लिए बृहदारण्यक ने कहा है—

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्व्वं विदितम्—बृह, २ । ४ । ५

आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाने से सब कुछ मालूम हो जाता है। अतएव श्रुति का यह कहना है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य.—बृह, २।४।५

आत्मा (ब्रह्म) का दर्शन श्रवण मनन और निदिध्यासन (ध्यान) करे। क्योंकि सब पदार्थ जब उसी के प्रकार या भेद हैं तब उसको जान लेने से और क्या अज्ञात रह जाता है! कुछ दृष्टान्तों के द्वारा इस विषय को विशद करने की चेष्टा बृहदारण्यक उपनिषद् ने की है—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः।—बृह, २।४।७

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः।—बृह, २।४।८

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः।—बृह, २।४।९

अर्थात् जैसे दुन्दुभी के बजाये जाने पर उसका बाह्य शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु दुन्दुभि को पकड़ लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड में आ जाता है, जिस तरह शङ्ख बजाने से उसका बाहरी शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु शङ्ख पकड़ लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड़ में आ जाता है, जिस तरह वीणा बजाने से उसका बाहरी शब्द ग्रहण नही किया जा सकता, किन्तु वीणा को ग्रहण कर लेने से उसका शब्द भी ग्रहीत हो जाता है—यही बात ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध मे भी है।

अर्थात् जिस प्रकार एक ही बाजे से अनेक तरह के शब्द निकलते हैं, तो वह नानात्व भेद एक बाजे का ही भेद है, उसी प्रकार एक ब्रह्म से जगत् का यह नानात्व भासित हो रहा है। ब्रह्म ही जगत्-सङ्गीत की वीणा है। यह नानात्व उसी का प्रकार या भेद हैं। अतएव उसको जान लेने पर उसका प्रकार मालूम हो ही जाता हैं। इसी लिए शौनक ऋषि ने अङ्गिरा से यह प्रश्न किया था—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। मुण्डक, १।१।३

हे भगवन्! किसको जान लेने से सब कुछ मालूम हो जाता है? इस पर अङ्गिरा ने उन्हें उस परा विद्या का उपदेश दिया था जिसके द्वारा उस अक्षर ब्रह्म वस्तु का ज्ञान होता है।

अथ परा यया तद् अक्षरमधिगम्यते।

इसका उद्देश्य यह है कि ब्रह्म को जान लेने से ही सब कुछ मालूम हो जाता है। क्योंकि यह सब जगत् ब्रह्म का ही प्रकार या भेद है।

विज्ञान की सहायता से वह तत्त्व कुछ-कुछ विशद हो सकता है। यह जो विशाल विश्व हमें प्रतिक्षण देख पडता है, जिसके विविध वैचित्र्य से हम उद्भ्रान्त हो रहे हैं, उसका विश्लेषण करना यदि हम धीरभाव से आरम्भ करें तो देखेंगे कि उसी जगत् के, स्थावर और जङ्गम, इन दो कोटियों में भाग किये जा सकते हैं। स्थावर है Inorganic, जगम है Organic। समुद्र, पहाड़, नदी, आकाश, जल, स्थल, अन्तरिक्ष, धातु, शिला, पृथ्वी, वाष्प, ये सब स्थावर के अन्तर्गत हैं। और वृक्ष लता गुल्म पशु पक्षी कीट सरीसृप मनुष्य—ये सब जगम के अन्तर्गत हैं। विज्ञान प्रतिपादन करता है कि जितने स्थावर पदार्थ हैं उनका यदि विश्लेषण किया जाय तो हम सत्तर मूल भूतों (Elements में उपनीत होंगे। और किसी भी जगम का विश्लेषण क्यों न किया जाय, हम देखेंगे कि उसका शरीर कोषाणुओं Cells द्वारा गठित है। अब इन कोषाणुओं का विश्लेषण किया जाय तो हमें उक्त सत्तर मूल भूतों मे से कुछ मूल भूत उपलब्ध होंगे। अतएव पाश्चात्य विज्ञान के मत से यह विविध वैचित्र्यमय जड़ जगत् उक्त सत्तर मूल भूतों (हाइड्रोजन, आक्सिजन,पारद, सुवर्ण, रौप्य, गन्धक और कारबन प्रभृति) के संयोग और संघात से रचा हुआ है।

वैज्ञानिक लोग बहुत दिनों तक इन मूल भूतों के परमाणुओं को परस्पर स्वतन्त्र और नित्य समझते थे। वे कहते थे कि सुवर्ण का परमाणु सदा सुवर्ण का ही परमाणु बना रहता है और बना रहेगा।

किन्तु साथ ही वैज्ञानिकों का यह भी एक अनुमान था कि उक्त सत्तर मूल भूत शायद किसी अद्वितीय उपादान से बने हुए हैं, शायद वे एक चरमभूत के परिणाम मात्र हैं। मनीषी सर विलियम क्रुक्स ने इस स्वप्न को वास्तविक रूप में परिणत कर दिया। उन्होंने पहले पहल प्रतिपादन किया कि रसायनोक्त उक्त सत्तर मूल भूत वास्तव में मूल भूत नहीं हैं, वे तो प्रोटाइल (Protyle) नामक एक चरमभूत के विकार मात्र हैं। यह प्रोटाइल ही जगत् का निर्विशेष (Homogeneous) चरम उपादान है—इसी के संयोग और संघात से यह विचित्र विश्व बना हुआ है। उन्होंने यह भी प्रतिपन्न किया कि वैज्ञानिक जिनको नित्य अखण्ड परमाणु समझते थे वे न तो नित्य हैं और न अखण्ड ही। वे परस्पर स्वतन्त्र भी नहीं है। अस्तु। उक्त प्रोटाइल रूप मूल परमाणु के संघात-भेद से रासायनिकों के सत्तर विभिन्न परमाणुओं की उत्पत्ति उसी तरह हुई है जिस तरह ईंटों के एक ढेर को भिन्न-भिन्न रीति से सजाने से अनेक प्रकार की अट्टालिकाएँ बना ली जाती हैं। आज कल क्रुक्स का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक समाज में स्थिर सिद्धान्त मान लिया गया है।

यह प्रोटाइल ही हमारी परिच्छिन्न प्रकृति है। सांख्यवादियों ने इसे जगत् का अद्वितीय उपादान—अमूल मूल प्रतिपन्न किया है।

किन्तु प्रकृति के सिवा जगत् में एक और वस्तु है—विज्ञान ने उसका नाम रक्खा है 'फोर्स' Force (शक्ति), Energy, Power.

पहले पहल शक्ति के विविध वैचित्र्य देखकर हम विमोहित होते हैं, हम समझते हैं कि शक्ति के अनन्त भेद हैं। किन्तु धैर्य के साथ जागतिक शक्तियों का विश्लेषण करने पर मालूम हो जाता है कि भौतिक शक्ति की कितनी ही विचित्रता क्यों न हो, वह कुल छ: विभागों के अन्तर्गत है—गति, ताप, प्रकाश, विद्युत, आकर्षण शक्ति और रासायनिक शक्ति अर्थात् Motion, Heat, Light, Electricity, Magnetism and Chemical Affinity. इसके सिवा दो शक्तियाँ और भी

है—प्राणशक्ति (Vital force) और जीवशक्ति (Psychic force) शक्ति के यही आठ भेद हैं। वैज्ञानिकों का बहुत दिन तक यह विश्वास था कि यह अष्टविध शक्ति परस्पर विभिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। उन्हे इस बात का पता न था कि ये सब भेद एक महाशक्ति के ही भावान्तर हैं। कुछ वर्ष पहले सर विलियम ग्रोव ने वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा प्रतिपन्न कर दिया कि उक्त षड्विध भौतिक शक्ति को परस्पर रूपान्तरित किया जा सकता है—अर्थात् विद्युत् से ताप, प्रकाश, आकर्षण शक्ति उत्पन्न की जाती है, फिर ताप और प्रकाश प्रभृति को विद्युत् मे रूपान्तरित किया जाता है। उन्होंने इस प्रक्रिया का नाम रक्खा—शक्ति-समावर्तन (Correlation of physical forces)। हेलमहोट्स (Helmholts) और मायर (Myer) ने इस तत्त्व को और भी विशद किया। अन्त में प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर ने इस तत्त्व का सम्प्रसारण करके प्रतिपन्न किया कि न केवल भौतिक शक्ति ही बल्कि प्राणशक्ति और जीवशक्ति भी उक्त समावर्त्तन-विधि के अन्तर्भुक्त हैं। सभी जातियों की शक्तियाँ अन्य जाति की शक्तियों में रूपान्तरित हो सकती हैं। शक्ति का वास्तविक न तो ह्रास होता है और न वृद्धि होती है, न उसकी उत्पत्ति है और न विनाश, न उसका उपचय है और न अपचय; उसमे है सिर्फ आविर्भाव और तिरोभाव, उसमे है सिर्फ रूपान्तर और भावान्तर। वैज्ञानिक भाषा मे इसी तत्त्व को Conservation of Energy कहते हैं। हरबर्ट स्पेंसर ने इसका नाम रक्खा है—Persistence of force, वे कहते हैं कि कोई ऐसी अज्ञेय और अचिन्त्य शक्ति Power है जो रूपान्तरित तो होती है; किन्तु विनष्ट नहीं होती।

अर्थात् जैसे सब राग-रागिनियाँ सात स्वरों के विकारमात्र हैं, जैसे सारे पदवाक्य पचास अक्षरों का समन्वयमात्र हैं, वैसे ही सारी शक्ति पहले आठ मूल शक्तियो मे सङ्कुचित हुई, फिर वही अष्टशक्ति एक महाशक्ति का ही रूपान्तर प्रतिपन्न हुई। यह महाशक्ति जड नहीं, चिन्मय है—वह

Force नहीं, Power है*। प्राकृतिक जगत् में जो जड शक्ति का कार्यकलाप जान पडता है वह वास्तव मे उसी सर्वशक्तिमान् महेश्वर का विलास है। गीता मे इस बात की स्पष्ट शिक्षा है—

यदादित्यगत तेजो जगद्भासतेनऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥

—गीता, १५। १२

आदित्य, चन्द्र और अग्नि मे जो तेज प्रकाश रूप से चमकता है वह उसी का तेज है।

तेजश्चास्मि विभावसौ।—गीता, ७। ९

अग्नि मे उत्ताप रूप से जो शक्ति प्रकट होती है वह उसी की है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।—गीता, १५। १३

पृथिवी में माध्याकर्षण रूप से जो शक्ति प्रकट होती है वह उसी की है। वही—

जीवनं सर्वभूतेपु।—गीता, ७। ९

सब जीवों की प्राणशक्ति है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित।—गीता, १५। १४

वही वैश्वानर-रूप मे प्राणियों की देह मे स्थित है।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत

सब क्षेत्रों मे वही क्षेत्रज्ञ रूप से विराजमान है।

यह Matter और Power हमारा पूर्वोल्लिखित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अन्न और अन्नाद, प्रकृति और पुरुष है। अतएव प्रकृति और पुरुष

---

* The power which manifests throughout the universe distinguished as material is the same power which in ourselves wells up under the form of consciousness—Ecclesiastical Institutions P 829

Matter और Power ही इस जगत् का महाद्वैत है। इस द्वैत को अद्वैत में समन्वित किया जाता है या नहीं? इस विषय मे उपनिषद् ने क्या निर्णय किया है? उपनिषद् का कहना है कि यह जो महाद्वैत प्रकृति और पुरुष हैं—ये ब्रह्म के भेद या प्रकार मात्र हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा गया है कि वह प्रधान क्षेत्रज्ञपति हैं। और—

क्षरं प्रधान अमृताक्षरं हरः क्षरात्मनो ईशते देव एकः।—श्वेत, १।१०

एक अद्वितीय देव क्षर और अक्षर दोनो का शासन करता है।

गीता मे भगवान् ने अपनी परा और अपरा प्रकृति का उल्लेख करके कहा है—

एतद् योनीनि भूतानि सर्व्वाणीत्युपधारय।—७।६

इन दोनो से सब भूत उत्पन्न हुए हैं। यह अपरा प्रकृति साख्योक्त प्रधान और परा प्रकृति साख्योक्त पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ है।

अपरेयम् इतस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥ गीता ७।५

इस अपरा प्रकृति से विभिन्न मेरी परा प्रकृति है—वह प्रकृति जीवरूपी है और उसके द्वारा यह जगत् धारण किया हुआ है।

गीता मे अन्य स्थान पर इस उभय प्रकृति को क्षर और अक्षर पुरुष रूप में बतलाया गया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥—१५।१६

जगत् मे, क्षर और अक्षर, द्विविध पुरुष देख पडता है। क्षर पुरुष समस्त भूत (अर्थात् जो कुछ मूर्त है, जिसकी मूर्ति है वही क्षर) हैं, और जो कूटस्थ (क्षेत्रज्ञ) है वही अक्षर पुरुष है। किन्तु भगवान् तो क्षर और अक्षर दोनो से ही परे है—न वह पुरुष है और न प्रकृति, वह तो पुरुषोत्तम है।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः ।

तस्मात् लोके च वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥—गीता, १५।१८

मैं (भगवान्) क्षर के अतीत और अक्षर से उत्तम हूँ, इसी से लोक और वेद मुझे पुरुषोत्तम कहता है ।

इस प्रकृति और पुरुष का उपनिषद् ने अनेक स्थानों में अनेक संज्ञाओं द्वारा परिचय कराया है । कहीं इनका नाम रक्खा है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, कहीं मूलप्रकृति और प्रत्यगात्मा, कहीं अन्न और अन्नाद, कहीं रयि और प्राण, और कहीं पर अप् तथा मातरिश्वा । किन्तु कहीं किसी रूप में उल्लेख क्यों न हो, उपनिषद् ने कहीं इन दोनों को चरम तत्त्व नहीं बतलाया ।

प्रजाकामो वै प्रजापतिः * * *

स मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति ।

एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ।—प्रश्न, १।४

प्रजापति ने प्रजा की कामना करके रयि और प्राण को उत्पन्न किया, ये ही हमारे लिए बहुविध प्रजा उत्पन्न करेंगे ।

एतावद् वा इदं सर्व्वम् । अन्नं चैव अन्नादश्च ।—बृह, १।४।२

यही यह सर्व है—अन्न और अन्नाद—अर्थात् अन्न और अन्नाद दोनों मिलकर सारा जगत् बना है ।

तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति ।—ईश, ४

मातरिश्वा (प्राण) उस (ब्रह्म) में अप् रखता है । अप्=कारणार्णव=अव्यक्त प्रकृति । मातरिश्वा=प्राण=पुरुष ।

प्रलय में प्रकृति और पुरुष दोनों महेश्वर में विलीन हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण का वचन है—

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।

पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि ॥ विष्णु, ६।४।३८

व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप में प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही परमात्मा में विलीन होते हैं ।

उपनिषद् का उपदेश भी यही है—

अक्षरं तमसि लीयते, तम: परे देवे एकीभवति ।

अक्षर तम में लीन होता है और तम परमात्मा मे एकीभूत हो जाता है। इसी से परमात्मा का एक सार्थक नाम नारायण है। नार का अयन (आश्रय) है नारायण। नार का अर्थ कारणार्णव (प्रधान, प्रकृति) है,* फिर नार का अर्थ नर (क्षेत्रज्ञ) का समुदाय है। परमात्मा प्रधान और क्षेत्रज्ञ है, दोनो का अयन वह प्रधान क्षेत्रज्ञपति है।†

प्रलय की दशा में जब पुरुष और प्रकृति दोनो परमात्मा मे विलीन, एकीभूत हो जाते हैं तब केवल वही रह जाता है।

आत्मा वा इदमग्र आसीत्—ऐत, १।१

इस एकाकार अवस्था मे वह एकमेवाद्वितीयम् रहता है। पुराण की भाषा मे इस अवस्था को ब्रह्म की 'योगनिद्रा' कहते हैं। प्रधान और पुरुष—ब्रह्म की ये दोनो विपरीत प्रकृतियाँ उस समय परमात्मा मे एकीभूत हो जाती हैं। अन्त मे प्रलय का अवसान होने पर जब परमात्मा प्रबुद्ध होता है तब उसकी इच्छा होती है कि—एकोऽहं बहु. स्याम—मैं अकेला बहुत हो जाऊँ। इसी को सिसृक्षा कहते हैं। इस सिसृक्षा का उदय होने पर प्रकृति पुरुष का योग भग्न हो जाता है और गीता ने जिसे परा तथा अपरा प्रकृति कहा है उसी प्रधान और क्षेत्रज्ञ का आविर्भाव होता है।

या परापरसंभिन्ना प्रकृतिस्ते सिसृक्षया ।

जैसे लोहे (Soft iron) मे चौम्बक शक्ति का Positive और Negative भेद योगनिद्रा मे छिपा रहता है किन्तु वही लोहा यदि विद्युत्प्रवाह की परिधि मे आ जाय तो वह सुप्त चौम्बक शक्ति उद्बुद्ध होकर Positive और Negative भेद से भिन्न हो जाती है वैसे ही

---

* आपो नारा इति प्रोक्ता. ।—मनुस्मृति ।

† प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश· ।—श्वेत ।

परमात्मा की सृष्टि की प्रवृत्ति प्रसूत होने पर उसकी योगनिद्रा भङ्ग हो जाती है और अपरा प्रकृति (प्रधान) तथा परा प्रकृति (क्षेत्रज्ञ) का आविर्भाव होता है। जब तक सृष्टि रहती है तब तक यह पुरुष और प्रकृति दोनों परस्पर सयुक्त, समवाय सम्बन्ध मे जुडे रहते हैं। इसी लिए पुराण की भाषा मे महेश्वर अर्द्धनारीनटेश्वर हैं—वे एक अङ्ग मे हर और दूसरे अङ्ग में गौरी हैं। क्योंकि प्रकृति पुरुष का, हर गौरी का नित्य मिलन रहता है—उसमे पल भर के लिए भी विच्छेद नही है।

सयत्तमेतत्क्षरमक्षरञ्च
व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश।—श्वेत, १।८
सयत्तम्—परस्पर संयुक्तम्—शङ्कर

अर्थात् ये क्षर और अक्षर (प्रकृति और पुरुष) दोनों परस्पर सयुक्त हैं। ईश्वर इनका भर्ता है। यह उपदेश विज्ञान-सम्मत है, क्योंकि विज्ञान के मत से भी Matter और Force समवाय सम्बन्ध मे सम्बद्ध हैं। जहाँ जड है वहा शक्ति है, जहाँ शक्ति है वहीं जड है। जड और शक्ति आपस मे नित्य सहचर हैं। No matter without force—no force without matter. Matter and force are co-existent and inseparable

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यह प्रधान और क्षेत्रज्ञ, यह प्रकृति और पुरुष—स्वतन्त्र नहीं हैं, वे ब्रह्म के अधीन हैं,—वे ब्रह्म की ही 'प्रकृति', प्रकार या भेद मात्र हैं—modes of manifestation वही एकमात्र सत् है, और जो कुछ है वह केवल वाक्य की योजना है, नाम की रचनामात्र है।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—छा, ६।१।४

इसी लिए ऋग्वेद के ऋषि ने उदात्त स्वर मे कहा है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

उसी एक सत् को विप्र लोग बहुत कहते हैं।

चतुर्थ अध्याय

जीव और ब्रह्म

आधे श्लोक के द्वारा जिन्होंने वेदान्त का सारा मर्म प्रकट करने का साहस किया है उनकी उक्ति यह है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है—और कुछ नहीं है ।

'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है'—इस उक्ति के तात्पर्य को समझने की चेष्टा हमने पिछले अध्याय में की है । अब इस अध्याय में हम इस उक्ति का, कि जीव 'ब्रह्म ही है,' मर्म खोलने की चेष्टा करेंगे ।

ब्रह्म, जगत् और जीव—यही तत्त्वत्रय है । इसमें से ब्रह्म के साथ जगत् का क्या सम्बन्ध है, इसकी चर्चा पिछले अध्याय में हो चुकी है । अब इस प्रश्न का उत्तर देना है कि जीव और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध है ।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि चारों वेदों के जो चार महावाक्य या चरम उपदेश हैं वे एक स्वर में जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपन्न करते हैं । सोऽहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि—'मैं वही हूँ,' 'तू वह है,' 'यह आत्मा ब्रह्म है,' 'मैं ब्रह्म हूँ'—चारों वेदों के ये चार महावाक्य एक स्वर मे प्रचार कर रहे हैं—जीवो ब्रह्मैव नापर.—'जीव ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं है ।' श्रीशङ्कराचार्य ने इसकी प्रतिध्वनि करके कहा है—

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

शास्त्रों में एक जगह शास्त्रकार स्वयं जीव के ही मुँह से कहलाते हैं—

अहं देवो न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

मैं देव अन्य कोई नहीं हूँ, ब्रह्म ही हूँ, मैं शोक मोह के अधीन नहीं हूँ। मेरा स्वभाव नित्यमुक्त है, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ।

यह किस प्रकार सम्भव या सङ्गत है? ब्रह्म तो शुद्ध, अपापविद्ध है और जीव पाप-ताप-क्लिष्ट, दुर्बल तथा मलिन है। दोनों का अभेद या ऐक्य किस प्रकार सम्भव है? और महावाक्यों ने तो साफ-साफ ऐक्य का ही उपदेश दिया है। वेदान्तसूत्र में बादरायण ने भी सूत्र बना दिया है—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।

अर्थात् आचार्य शिष्य को 'तत्त्वमसि,' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उपदेश द्वारा जीव-ब्रह्म का ऐक्य कराते हैं और शिष्य उसे उसी रूप में मान कर 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

सच तो यह है कि इन महावाक्यों का वास्तविक तात्पर्य समझ लेना इतना कठिन है कि समय पाकर इनके मर्म का लोप हो जाने से समाज में कठोरता, दाम्भिकता, नास्तिकता और आध्यात्मिक स्वार्थपरता आदि अनेक उत्पात उठ खड़े हुए। बन्दर को मोतियों का हार पहनाने से अर्थात् अनधिकारी को उच्च तत्त्व का उपदेश करने से जैसी विडम्बना होती है उसका अच्छा वर्णन एक संस्कृत कवि ने उपहास के ढंग पर किया है। वे कहते हैं कि एक स्वैरिणी की, पड़ोसियों ने, भर्त्सना की, तो उसने अद्वैत मत की दुहाई देकर कहा कि जो ब्रह्म पति में विराजमान है वही उपपति में भी है। ऐसी दशा में पति और उपपति का भेदभाव रखना भारी मूढ़ता है। इस विडम्बना के एक और उदाहरण 'विचारसागर'-प्रणेता निश्चलदास हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में

शिष्टाचार-सम्मत नमस्कार की प्रथा का निर्वाह करते हुए पण्डितजी बड़े असमंजस मे पड गये हैं। वे कहते हैं कि जब मैं ही वह हूँ—"सोह आपे आप" जब—

अब्धि अपार स्वरूप मम लहरी विष्णु महेश ।
विधि रवि चन्दा वरुण यम शक्ति धनेश गणेश ॥

जिस समुद्र के ब्रह्मा, विष्णु, हर, सूर्य, चन्द्र, वरुण, यम, शक्ति, कुबेर, गणेश प्रभृति लहरीमात्र हैं वही अपार समुद्र मैं स्वय हूँ—तब "काको करूँ प्रणाम" किसे प्रणाम करूँ? यदि कहो कि जीव और ईश्वर मे तो व्यावहारिक भेद है, उसी भेद का आश्रय करके ईश्वर को प्रणाम कर लो, तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि—

जा कृपालु सर्वज्ञ को हिय धारत मुनि ध्यान ।
ता को होत उपाधि ते मो मैं मिथ्या भान ॥

मुनि लोग जिस कृपालु सर्वज्ञ (ईश्वर) का चित्त मे ध्यान करते हैं वह तो उपाधि का उपघात मात्र है—अलीक पदार्थ है, मिथ्या ज्ञान की सृष्टि है, उसे भला किस प्रकार प्रणाम किया जाय? यह सोच-विचार कर निश्चलदास प्रणाम नहीं कर सके।

इस सारी विडम्बना से ऊबकर किसी-किसी द्वैतवादी ने कहा है कि 'तत्त्वमसि' का वास्तविक अर्थ न समझ पाने से तुम लोगो के लिए यह गड़बड़ है। जानते हो, इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है? तस्य त्वम् असि—अर्थात् तुम उसके हो, इसमें यह षष्ठी तत्पुरुष समास है। अतएव तत्त्वमसि प्रभृति महावाक्य का तात्पर्य यह है कि जीव भगवान् का नित्य दास है। विशिष्टाद्वैतवादियों ने उल्टे रास्ते जाकर कहा है कि तत्त्वमसि प्रभृति वाक्य मे 'तत्' शब्द से जिस प्रकार ब्रह्म सूचित होता है, उसी प्रकार 'त्व' शब्द भी ब्रह्म को ही सूचित करता है—ब्रह्म यदि के साथ अभिन्न है, तो इसमे विचित्रता ही क्या है?

तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म इत्यादिषु तच्छब्द-त्वध-ब्रह्मशब्दवत् त्वम् अयमात्म-शब्दोपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेन एकार्थाभिधायित्वात्।

—वेदान्ततत्त्वसार।

तथाहि तत्पदं जगदुदयविभवलय लील ब्रह्म प्रतिपादयति * * त्व पदं वा चिद्विशिष्टं जीवशरीर ब्रह्माचष्टे, प्रकारद्वय विशिष्टैकवस्तु परत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।—सर्वदर्शनसंग्रह।

अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य का 'तत्' शब्द जिसका लीला-विलास जगत् की सृष्टि स्थितिलय है उस ब्रह्म को सूचित करता है और 'त्व' पद द्वारा वही ब्रह्म समझना चाहिए जो चिद्विशिष्ट है और जीव जिसका शरीर है। क्योंकि वस्तु तो एक ही है किन्तु उसके प्रकार का भेद है—सामानाधिकरण द्वारा यही सूचित होता है।

क्या ये क्लिष्ट-कल्पनाएँ नहीं हैं? अन्य पक्ष में अद्वैतवादी लोग उक्त सामानाधिकरण को घटाने के लिए कहते हैं कि जब असम्भव को सम्भव करना है तब लक्षणा करो—जैसे गङ्गाया घोष। गङ्गा के जल में तो अहीरों की बस्ती हो नहीं सकती, अतएव लक्षणा द्वारा समझना होगा कि गङ्गा किनारे ग्वालो की बस्ती है। तत्त्वमसि प्रभृति स्थल पर भी वैसी हीं लक्षणा करके जीव का जीवत्व निकाल दो और ब्रह्म का ब्रह्मत्व छोड दो, तब तो जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध हो जायगा। अर्थात् गधे का गधापन और घोडे का घोडापन निकाल दो, आकाश का आकाशत्व और पाताल का पातालत्व छोड दो, तब तो दोना की एकता सिद्ध हो जायगी। अतएव समझ लिया गया कि आकाश और पाताल एक ही है, गदहा और घोडा एक ही है।

यद्यपि इन क्लिष्ट कल्पनाओं का आश्रय लिया जाता है तथापि उपनिषद् ने कहा है—

ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ

ब्रह्म और जीव दोनों ही अनादि हैं, एक तो प्राज्ञ है और दूसरा अज, एक ईश है और दूसरा अनीश।

प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढः

जीव प्राज्ञ आत्मा (अन्तर्यामी) द्वारा आलिङ्गित है, और प्राज्ञ आत्मा द्वारा अधिष्ठित है।

बादरायण ने जो सूत्र बनाये हैं—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात्—२।१।२२

इतरव्यपदेशात्—२।१।२०

'ब्रह्म जीव से अधिक है, क्योंकि दोनो का भेद बतला दिया गया है, दोनो के अनैक्य का उपदेश दिया गया है'—सो इन उक्तियों की क्या गति होगी ? श्रुति ने एक स्थान पर तो जीव को विभु (विश्वव्यापी) कहा है—

आकाशवत् सर्व्वगतश्च नित्यः।

फिर अन्य स्थान मे अणु (बहुत ही सूक्ष्म) कहा है—

अणुरेष आत्मा। आराग्रमात्रः पुरुषोऽणुरात्मा।

इस समस्या का समाधान किस तरह होगा ? वितण्डा के द्वारा न होगा, विवाद करने से न होगा और प्रतिष्ठाहीन तर्क करने से भी न होगा, वह तो वैसे ही भावसिद्ध ध्यान धारणा के द्वारा होगा जैसा कि सयम और श्रद्धा के साथ प्राचीनकाल मे विद्या का आदान-प्रदान होता था।

ह्रिया देयं भिया देयं संविदा देयं श्रद्धया देयं अश्रद्धया देयम्।

क्योंकि आत्म-दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना पड़ता है, नहीं तो ब्रह्मज्योति जीव के नेत्रगोचर नहीं होती।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः।

उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म अग्नि है और जीव चिनगारी (sparks), ब्रह्म सिन्धु है और जीव बिन्दु, ब्रह्म चिदाकाश है और जीव चित्कण या चिन्मात्र।

परस्यैव तावद् आत्मनो ह्यंशो जीवः अग्निरिव विस्फुलिङ्गाः (Divine fragments)—शङ्कर।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गा
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।—मुण्डक २।१।१

(भावाः=जीवाः)

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्व्वे प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवा सर्व्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

—बृहदारण्यक, २।१।२०

जिस तरह सुदीप्त अग्नि से हजारों एक सी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी तरह अक्षर पुरुष (ब्रह्म) से विविध जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं।

जिस तरह आग से छोटी चिनगारी निकलती हैं उसी तरह परमात्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत निकलते हैं।

गीता ने भी साफ-साफ कह दिया है कि जीव ब्रह्म का अंश है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।—गीता, १५।७

मेरा (भगवान् का) ही अंश जीवलोक में सनातन जीवरूप में स्थित है।

ब्रह्मसूत्र का भी यही मत है—

अंशो नानाव्यपदेशात्।—२।३।४३

ब्रह्म निष्कल (निरवयव) वस्तु है—तब निरंश का अंश कैसे हो सकता है। अंश कहने से कहीं जीव ब्रह्म का अवयव न समझ लिया जाय, इसलिए श्रुति ने घटाकाश का उदाहरण दिया है—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥

आकाश एक, निरवच्छिन्न, निरवयव वस्तु है। घट के साथ सयुक्त आकाश को लक्ष्य करके उसे घटाकाश और मठ के साथ सयुक्त आकाश को लक्ष्य करके उसे मठाकाश कहा जाता है। घटाकाश और मठाकाश वही महाकाश हैं; केवल उपाधि की भिन्नता से भेद का भान होता है, वास्तव मे भेद नही है। जीव और ब्रह्म का ठीक यही भाव है—केवल उपाधि का भेद है, वास्तविक भेद नहीं है।

परवर्ती वेदान्तियो ने उक्त प्राचीन उदाहरण का अनुसरण करके लिखा है—

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वत् जीवा इहात्मनि ॥—गौड़पाद।
कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्राद् ऋते नहि।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥—पञ्चदशी।

जिस प्रकार घट आदि के टूट जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है उसी प्रकार देह का विनाश होने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

जीव और ब्रह्म में नाममात्र का प्रभेद है, जैसा कि अभिन्न महाकाश और घटाकाश का प्रभेद है।

हम देख चुके हैं कि ब्रह्म चिदाकाश है और जीव चिन्मात्र—जीव ब्रह्माग्नि की चिनगारी और ब्रह्मसिन्धु का बिन्दु है। यह चिन्मात्र की उपाधि क्या है? इसका ठिकाना कहाँ है? उपनिषद् का कहना है कि इसका स्थान हमारे हृदय में है—

हृदि अयमिति तस्माद् हृदयम्।—छान्दोग्य, ८।३।३

हृदय को इसलिए हृदय कहते हैं कि वह (ब्रह्म) हृदय मे है—हृदि अयम्।

गीता का भी यही कथन है—

सर्व्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः—१५।१५

देह ब्रह्मपुर (Tabernacle of God) है।* और देहरूप पुर में जो रहता है वह 'पुरुष' (पुर्+वस्) है।

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥

ब्रह्म ने द्विपद का और चतुष्पद का पुर बनाया और पक्षी होकर तथा पुरुष बनकर उसने उन पुरों में प्रवेश किया।

इसी से देह को देवालय कहा है—

देहो देवालयः प्रोक्त यो जीवः स सदाशिवः।

देह को देवालय (मन्दिर) कहते हैं और देह में स्थित जीव ही सदाशिव है।

शास्त्र में अन्यत्र इसी भाव का उपदेश देख पड़ता है—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ भागवत, ३।२६।२१

सब भूतों को बडे आदर के साथ मन से प्रणाम करे, क्योंकि स्वय भगवान् सब में जीवरूप से प्रविष्ट है। अन्यत्र भी उपदेश दिया गया है—

प्रपूज्य पुरुषं देहे देहिनं चांशरूपिणम्।

देह मे जीव रूप से भगवान् की पूजा करनी चाहिए। गीता में भी एक स्थान पर लिखा है कि देह में भगवान् ही देही रूप से स्थित है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥—गीता, १३।२२

इस देह में परमपुरुष परमात्मा महेश्वर विराजमान है। वही साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता है।

---

* इसी लिए सेंटपाल ने कहा है—Know ye not that you are the tabernacles of God and the Most High dwelleth in you.

यहाँ तक हमने चिन्मात्र का वर्णन किया है। चिदाकाश ब्रह्म और दहरकोशस्थित गुहाहित ब्रह्म (जिसे अंश कहा गया है)—सब चिन्मात्र है। इस चिन्मात्र का बुद्धि में जो प्रतिबिम्ब है वह प्रतिबिम्ब ही जीव हैं।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥—ब्रह्मविन्दु, १२।

एक ही (अद्वितीय) भूतात्मा प्रत्येक भूत में स्थित है। जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह वह एक ही अनेक रूपों में देख पड़ता है।

तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्।—ऐ० ११।

जैसे एक सूर्य जल के आधार-भेद से पृथक् हो जाता है वैसे ही एक आत्मा अनेक (देहों) में रहकर विभिन्न हो गया है।

यह बिम्ब और प्रतिबिम्ब की उपमा उपनिषद् में अन्यत्र भी देख पड़ती है। कठ-उपनिषद् का वचन है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ॥

यह धूप-छाँह, बिम्ब और प्रतिबिम्ब—गुहाप्रविष्ट चिन्मात्र और कर्मफलभोगी जीव को लक्ष्य करता है। जिस तरह ज्योतिर्मय सूर्य का बिम्ब अन्य स्वच्छ पदार्थ में प्रतिफलित होकर प्रतिबिम्ब रूप में आभा फैलाता है उसी तरह हृदिस्थित (गुहाहित) चिन्मात्र, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। यही जीव है। इसे लक्ष्य करके बादरायण ने सूत्र बनाया है—

आभास एव च।—२।३।५० ब्रह्मसूत्र

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत्।—३।२।१८

अर्थात् जल में जिस तरह सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है उसी तरह बुद्धि में चिन्मात्र का प्रतिबिम्ब पडता है। वह प्रतिबिम्ब ही जीव है।

शङ्कराचार्य ने उस सूत्र के भाष्य में कहा है—

उपाधितन्त्रो हि जीवः × × आभास एव चैप जीवः परस्यात्मनो जलसूर्य्यकादिवत् प्रतिपत्तव्य. । × × एव परमार्थतः अविकृतं एकरूपमपि सत् ब्रह्म देहादि-उपाध्यन्तर्भावाद् भजत इव उपाधिधर्मान् वृद्धि-ह्रासादीन् ।

अर्थात् जीव उपाधितन्त्र है। जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि मे ब्रह्म का प्रतिबिंब पडता है। ब्रह्म निर्व्विकार, कूटस्थ और एक रूप है, किन्तु देहादि-उपाधि के संयोग से वह मानों देह-धर्म वृद्धि-ह्रास आदि से संयुक्त होता है। उपाधि= देह, जिसे वेदान्त की भाषा मे कोश कहते हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय और हिरण्मय कोष। इस कोशरूप उपाधि के लिए ही जीव का जीवत्व है।

कोशोपाधिविवक्षाया याति ब्रह्मैव जीवताम् ।—पञ्चदशी ।

गीता ने निम्नोक्त श्लोको मे तीन पुरुषों का उपदेश देकर इस तत्त्व को विशद किया है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
> क्षरः सर्व्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्य. परमात्मेत्युदाहृतः ।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
> यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

—गीता, १५।१६-१८

लोक मे दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। सब भूत क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ अक्षर पुरुष है और एक पुरुषोत्तम है जिसे परमात्मा कहते हैं, वह अव्यय ईश्वर तीनो लोकों मे व्याप्त होकर उन्हें धारण करता है। वह क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम है, इसीलिए लोक मे और वेद मे उसे पुरुषोत्तम कहते हैं।

अतएव गीता के मत से तीन पुरुष हैं; क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष = परमात्मा, भगवान्। अक्षर पुरुष = प्रत्यगात्मा, कूटस्थ। क्षर पुरुष = जीवात्मा, सर्वभूत। उत्तम पुरुष = चिदाकाश, अक्षर पुरुष = चिन्मात्र (Monad) क्षर पुरुष = चिदाभास। उत्तम पुरुष मानो समुद्र है और अक्षर पुरुष या चिन्मात्र मानो उसी का बिन्दु है। समुद्र में और बिन्दु में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। जीव जब तक परमात्मा को और प्रत्यगात्मा को अभिन्न न जानेगा तभी तक उसे शोक मोह होगा और इस संसार-चक्र में घूमना पड़ेगा। किन्तु जब वह अपने को ब्रह्म के हृदय में स्थित अंश समझ लेगा तब उसका संसार-बन्धन कट जायगा।

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्

—कठ, २।१।१

कभी कोई धीर व्यक्ति अमरत्व की इच्छा से, बाहरी विषयों को समेट कर, प्रत्यगात्मा के दर्शन करता है।

द्वितीय मुण्डक में इस तत्त्व का, रूपक की भाषा में, उपदेश है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः॥

दो सुन्दर पक्षी एक ही पेड़ पर बैठे हुए हैं। वे आपस में मित्र हैं। उनमें से एक तो स्वादिष्ट फल खाता है, और दूसरा खाता नहीं है, सिर्फ देखता है। एक ही वृक्ष पर एक (जीव) निमग्न होकर, ईश्वरभाव के अभाव में मोहाच्छन्न होकर, पछताता है, किन्तु जब वह दूसरे (ब्रह्म) को देख लेता है तब, उसकी महिमा का अनुभव करके, शोक को पार कर जाता है।

अनीशया शोचति मुह्यमानः

मोहग्रस्त होकर जीव शोक और दीनता के अधीन हो जाता है।

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति।—पञ्चदशी, ४।१२

देहसलग्न जीव मोहवश ईश्वरभाव खोकर शोक और दीनता के फन्दे में फँस जाता है। वह मानों अपने तईं भूला हुआ है—अपने आपको नहीं जानता।* प्राचीन लोगों ने एक दृष्टान्त के द्वारा इस तत्त्व को विशद कर दिया है। वे कहते हैं कि एक सिंह का बच्चा घटना-क्रम से भेड़ों के झुण्ड मे जा मिला था। भेड़ों मे रहते-रहते वह भ्रमवश अपने आपको भी भेड समझने लगा और भेड़ो के धर्म को मानकर हाथी, व्याघ्र आदि के सामने से भागने लगा। एक बार कोई दया करके उसे सरोवर के पास ले गया। उसने पानी में उसकी परछाई दिखाकर समझा दिया कि तुम भेड नहीं, सिंह हो। तब वह अपने स्वरूप को पहचान कर, सिंह के पराक्रम से, हाथी व्याघ्र आदि का सामना करने लगा।

जीव का भी यही हाल है। जीव उपाधि-सयोग से मोहग्रस्त होकर अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को भूल जाता है और "अनीशया शोचति मुह्यमानः"—ईश्वरभाव को खोकर शोकमोह के अधीन हो जाता है। यदि कभी सद्गुरु उससे कह देते हैं कि 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', और यदि कभी वह समझ जावे कि 'सोह', 'अह ब्रह्मास्मि'—तभी उसका अविद्या का आवरण हट जाता है और वह जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य को समझकर अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है। गौडपादाचार्य ने इसी अर्थ मे कहा है—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धयते।
अजमनिद्रमस्वप्नं अद्वैतं बुध्यते तदा॥—माण्डूक्यकारिका, १।१६

---

* हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मकर्मफलप्रदः॥—योगवाशिष्ठ, ६।२।८

अनादि माया के वश सोया हुआ जीव जब जाग जाता है तभी वह समझ सकता है कि वह तो स्वयं जन्महीन, निद्राहीन, स्वप्नहीन, अद्वैत ब्रह्म वस्तु है।

मुण्डक के 'द्वा सुपर्णा' श्लोक में हम देख चुके हैं कि जो अनीश है और शोक के अधीन है वही जीव (Lower self) है, और जो ईश है, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है—वही कूटस्थ, गुहास्थित ब्रह्म (Higher self) है। अब उपनिषद् के इस वाक्य को स्मरण कीजिए—

ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ।

एक अज्ञ है और दूसरा प्राज्ञ, एक ईश है और एक अनीश। अब समझ में आ गया कि कौन अज्ञ है और कौन प्राज्ञ, कौन ईश है और कौन अनीश।

इस प्रसङ्ग में बादरायण ने सूत्र बनाया है—

देहयोगाद् सा सोऽपि।—३।२।६

सोऽपि तु ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति।—शाङ्कर भाष्य।

अर्थात् देह इन्द्रिय मन और बुद्धि प्रभृति के साथ संयोग होने से जीव का ईश्वरभाव तिरोहित हो जाता है। तब वह—

अनीशया शोचति मुह्यमानः।

किन्तु सदा ऐसा ही नहीं बना रहता।

पराभिध्यानात् तु तिरोहितम्—ब्रह्मसूत्र, ३।२।५

तत् पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरं अभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोः विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्याद् ईश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिद् आविर्भवति न स्वभावत एव—शाङ्कर भाष्य।

जिस प्रकार धुँधली नजर वाले, खोई हुई दृष्टिशक्ति वाले, व्यक्ति को औषधि के गुण से दुबारा दृष्टिशक्ति मिल जाती है—अपने आप नहीं लौट आती—उसी प्रकार तिरोहित शक्तिवाला जीव ब्रह्म के

अभिध्यान मे प्रयत्नवान् होकर उसके प्रसाद से जब सिद्धि पा जाता है तब उसे उसका नष्ट ऐश्वर्य फिर मिल जाता है।

मुण्डक मे भी यही बात है—

जुष्ट यदा पश्यति अन्यमीशम्, अस्य महिमानमिति वीतशोकः।

जीव जब ईश्वर के दर्शन करता है तब उसकी महिमा का अनुभव करके वह शोक से पार पा जाता है। यही वास्तविक योग है—जीव का अपने रूप मे अवस्थान।

एष सम्प्रसाद अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण निष्पद्यते।—छान्दोग्य।

इस अवस्था को लक्ष्य कर छान्दोग्य श्रुति कहती है कि वह जीव इस शरीर से उठकर अर्थात् देहयोग को तोड़ करके परम ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी की प्रतिध्वनि करके पतञ्जलि ने कहा है कि योग की अवस्था में—

तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

जब जीव अपनी महिमा मे प्रतिष्ठित होता है, स्वरूप में स्थित होता है, तभी वह कह सकता है—'सोऽहम्, अह ब्रह्मास्मि'—इसके पहले नहीं।

हम देख चुके हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है—ममैवाश.—गीता।

ब्रह्म सिन्धु है, जीव बिन्दु, ब्रह्म अग्नि है, जीव चिनगारी। ब्रह्म जब सच्चिदानन्द है—सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म है—तब जीव भी वही हुआ।

सत्य ज्ञानमनन्तञ्चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्।—पञ्चदशी।

सत्, चित्, आनन्द—यह ब्रह्म का लक्षण जीव में भी विद्यमान है। जीव यदि—

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।

ही हुआ तब वेदान्तसूत्र यह बात क्यो कहता है—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ।—२।१।२२ सूत्र

अधिकोपदेशात् तु—३।४।८ सूत्र

सर्व्वज्ञ सर्व्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीराद् अधिकम्
—शङ्करभाष्य ।

अधिकस्तावत् शारीराद् आत्मनोऽसंसारी ईश्वर कर्तृत्वादि-संसारि-धर्मरहित• अपहतपाप्मादि विशेषण• परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेपु * * * तथाहि तमधिकं शारीराद् ईश्वरम् आत्मान दर्शयन्ति श्रुतयः ।
—शङ्करभाष्य ।

सर्व्वज्ञ सर्व्वशक्तिशाली नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म जीव से अधिक है ।

जीव की अपेक्षा ब्रह्म अधिक है । क्योंकि वेदान्त मे ब्रह्म को असंसारी अपहत-पाप्मा इत्यादि विशेषणों से विशेषित किया गया है । अतएव श्रुति ने ब्रह्म को जीव से अधिक दिखलाया है ।

ब्रह्म जीव से भिन्न नहीं—अधिक है । दोनों ही जब सच्चिदानन्द हैं तब ब्रह्म जीव से किस बात मे अधिक है ? ब्रह्म की अधिकता यह है कि उसमे सत् भाव, चित् भाव और आनन्द भाव सोलहों आने सुव्यक्त है, किन्तु जीव मे वह सत् भाव, चित् भाव और आनन्द भाव बहुत अंशों मे अव्यक्त है ।

भाव का प्रकाश शक्ति से होता है । सत् भाव का प्रकाश सन्धिनी शक्ति (Power) से, आनन्द भाव का प्रकाश ह्लादिनी शक्ति (Love) से और चित् भाव का प्रकाश संवित् शक्ति (Wisdom) से होता है । इन तीनों शक्तियों का दूसरा नाम ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रिया-शक्ति है । संवित्=ज्ञानशक्ति Power of Thought, ह्लादिनी= इच्छाशक्ति Power of Desire और सन्धिनी=क्रियाशक्ति Power of Action मानी जाती है । श्वेताश्वतर उपनिषद् का कथन है—

परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

अर्थात् ब्रह्म में स्व-भावसिद्ध ज्ञान-शक्ति, बल (इच्छा)-शक्ति और क्रियाशक्ति परा, अर्थात् परम काष्ठा को प्राप्त (सम्पूर्ण व्यक्त) है। विष्णुपुराण का कथन है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्व्वसंस्थितौ।

सर्व्वाधार एकमात्र ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ—सन्धिनी, ह्लादिनी और सवित्—पूर्णतया प्रकटित हैं। किन्तु जीव में ये तीनों शक्तियाँ साधारणतः अव्यक्त या अर्धव्यक्त हैं। इसी लिए उसे संसार में आना पडता है—उसका ब्रह्मचक्र में आवर्त्तन होता है।

तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे—श्वेत०

अब तक वह हस * है—सोऽहं नहीं, क्योंकि अभी तक वह—

पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा
(आत्मानं जीवम्, प्रेरितारम् ईश्वरम्—शङ्कर)

अब तक उसने जीव-ब्रह्म का ऐक्य उपलब्ध नहीं किया—अब तक वह अपने तई ब्रह्म से अलग समझता है।

इस प्रकार बार-बार ससार में आवर्त्तन करके कोश-ससर्ग के फल से क्रम-क्रम से जीव की सोई हुई शक्तियाँ प्रबुद्ध हो जाती हैं। पहले अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश की सहायता से, उसमें सोई हुई, क्रियाशक्ति (Activity), इच्छाशक्ति (Desire) और ज्ञानशक्ति (Thought) प्रस्फुटित हो जाती हैं। क्रमशः जीव जब विवर्त्तन की उच्च भूमिका में पहुँच कर उन्नत हो जाता है तब विज्ञानमय कोश की सहायता से उसकी अव्यक्त सवित् शक्ति, आनन्दमय कोश की सहायता से उसकी अव्यक्त ह्लादिनी शक्ति और हिरण्यमय कोश की सहायता से उसकी अव्यक्त सन्धिनी शक्ति विकसित होकर सुव्यक्त होती है और तभी

* हंस.=जीव—शङ्कर।

उसका सत्‌भाव, आनन्दभाव तथा चित्‌भाव सम्पूर्णता प्राप्त कर के वह जीव 'ब्रह्मभूत' होता है।'*

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।—गीता।

सम्प्रसाद (जीव) ब्रह्मभूत होने पर फिर वह शोक मोह से छुटकारा पा जाता है। तब—

जुष्टस्ततस्तेन अमृतत्वमेति—श्वेत०।

जीव ब्रह्म का वरणीय हो जाता है, उस समय जीव को अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। तब—

ब्रह्म सन् ब्रह्म अवैति।

जीव ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को जान सकता है। इस प्रकार चिदाभास जब चिदाकाश में फैल जाता है, प्रतिबिम्ब जब बिम्ब में मिल जाता है, जीवबिन्दु जब ब्रह्मसिन्धु में डूब जाता है तभी जीव कह सकता है—

सोहम्, अहं ब्रह्मास्मि।

ईशोपनिषद् में निम्नोक्त मन्त्र में यही विषय लक्ष्य किया गया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥— ईश०, १५

---

*इसी अवस्था को लक्ष्य करके शायद ईसा मसीह ने कहा है—
Be ye perfect as your Father in Heaven is perfect

गीता में श्री भगवान् ने अनेक स्थलों पर इस अवस्था को लक्ष्य किया है—

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति—५। २४
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्—६। २७
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते—१४। २६
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते—१८। ५३

हिरण्मय आच्छादन से सत्य का मुँह छिपा हुआ है, हे पूषन्! उस ढक्कन को हटा दो, मैं सत्यधर्मा हो गया हूँ, मैं सत्य का खुला हुआ मुँह देखूँगा।

यह हिरण्मय आवरण से ढका हुआ सत्य ही माया-उपहित ज्योतिर्मय ब्रह्म है। जो जीव सत्यधर्मा हो गया है, अर्थात् जिसने साधनबल से स्व-गत सर्वोच्च सत्-भाव का सम्पूर्ण विकास कर लिया है वही उस ब्रह्म के अनावृत स्वरूप का साक्षात् पाने योग्य है। इसी लिए वह कहता है—

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुष सोहम् अस्मि॥

तुम्हारा जो कल्याणतम ज्योतिर्मय रूप है उसी को मैं देखूँगा। वह पुरुष और मैं दोनों अभिन्न हैं—"सोऽहम्"।

किन्तु यह भी जीव की चरम नियति नहीं है। नदी एक न एक दिन समुद्र में मिलेगी ही। जीव में जो अदम्य ब्रह्मक्षुधा है (जिसे पाश्चात्य लोग अब Hunger for the absolute कहते हैं) वही क्षुधा किसी न किसी दिन उसे ब्रह्म के साथ मिला देगी। इस अवस्था को लक्ष्य करके उपनिषद् ने कहा है—

यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति॥—प्रश्न० ६।५

जिस तरह नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती जाकर, समुद्र में गिरकर, विलीन हो जाती हैं उसी तरह ब्रह्मदर्शी पुरुष की ये सोलह कलाएँ (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ) पुरुष को प्राप्त हो कर जब अन्तर्हित हो जाती हैं तब उनका न तो नाम रह जाता है और न रूप। उसे पुरुष ही कहा जाता है। तब ब्रह्मज्ञानी कलाहीन अमर हो जाता है।

तानि परे तथाहि आह—४।२।१५

अविभागो वचनात्—४।२।१६

तत्त्वज्ञानी के कोश ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं और उसके साथ अविभाग (अभेद) सिद्ध होता है। यह विदेह मुक्ति की बात है। इस अवस्था में जीव के सब कोशों का प्रविलय अथवा अत्यन्त नाश हो जाता है।

जीव और ब्रह्म के इस प्रकार मिश्रण की बात बादरायण ने अन्यत्र इसी भाव में प्रतिज्ञ की है—

अविभागेन दृष्टत्वात्—ब्रह्मसूत्र, ४।४।४

मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ अविभाग (अभेद) हो जाता है—यही श्रुति का उपदेश है। वास्तव में उपनिषद् ने इसी भाव में मुक्त के स्वरूप का वर्णन किया है—

यथा नद्य: स्यन्दमाना समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्त: परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस तरह नदियां बहती बहती समुद्र में गिरकर, नाम-रूप खोकर, अस्त हो जाती हैं उसी तरह विद्वान् (तत्त्वज्ञानी) नाम-रूप से मुक्त होकर दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

गीता का भी यही अभिप्राय है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।—१८।५५

मुक्त जीव ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानकर फिर ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यह सिर्फ मिलन नहीं—मिश्रण है। इस अवस्था में जीव और ब्रह्म के बीच कोई भेद नहीं रह जाता—दोनों एक हो जाते हैं। इस प्रकार जब जीव-संवित् ब्रह्म-संवित् में सम्प्रसारित हो जाती है, जीवबिन्दु जब ब्रह्मसिन्धु में डूब जाता है तब फिर सः और अहम्, तत् और त्वम् नहीं रह जाता—रह जाता है केवल एकमेवाद्वितीयम्।

पञ्चम अध्याय

ब्रह्मपुर

देह को पुर कहते हैं और पुर में रहने से देही जीव को पुरुष कहते हैं।

पुरि वसति शेते वा पुरुषः।

गीता ने 'नवद्वारे पुरे देही' श्लोक मे, देहरूप पुर में, देही के रहने का उल्लेख किया है। देहरूप पुर के—आँखें, कान, मुँह प्रभृति नव दरवाजे हैं। इसी से उपनिषद् ने कहा है—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।—श्वेत० ३।१८

जीवरूप हंस इस नवद्वार के पुर मे क्रीडा करता है। ब्रह्मरन्ध्र और नाभिरन्ध्र को मिलाकर कहीं देह-पुर का ग्यारहवाँ दरवाज़ा कहा गया है—

पुरमेकादशद्वारं अजस्यावक्रचेतसः।—कठ० २।१।१

केवल मनुष्यरूप जीव के रहने का घर ही पुर नहीं है, बल्कि पशु पक्षी कीट पतङ्ग सब प्रकार के जीवों की देह को पुर कहा गया है—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।

पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥—बृह० २।५।१८

ब्रह्म ने द्विपद का पुर बनाया, चतुष्पद का पुर बनाया और उसने पक्षी बनकर पुर मे प्रवेश किया, पुरुष होकर पुर में प्रवेश किया। पुरुष का अर्थ है नर-नारी। पक्षी इतर प्राणियों पशु पक्षी कीट पतङ्ग इत्यादि—का उपलक्षण है। इस पुर-प्रवेश का वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में इस तरह है—

सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। तमभ्यतपत्। तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत। नासिके निरभिद्येता अक्षिणी निरभिद्येतां कर्णौ निरभिद्येता त्वङ् निरभिद्यत हृदयं निरभिद्यत नाभिर्निरभिद्यत शिश्नं निरभिद्यत।—ऐत० १।३–४

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

—ऐत० २।४

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिति॥ —ऐत० ३।११–१२

उस (परमात्मा) ने जल से पुरुषमूर्त्ति उद्धृत करके उसे समूर्छित कर दिया—उसे अभितप्त किया। उस अभितप्त मूर्त्ति का मुख निर्भिन्न हो गया, नाक निर्भिन्न हो गई, कान निर्भिन्न हो गये, त्वचा निर्भिन्न हो गई, हृदय निर्भिन्न हो गया, नाभि निर्भिन्न हो गई और शिश्न निर्भिन्न हो गया। तब इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं ने उस मूर्त्ति में प्रवेश किया। वाक् इन्द्रिय के रूप में अग्नि ने मुख में प्रवेश किया। प्राण-रूप से वायु ने नासिका में प्रवेश किया। चक्षुरूप से सूर्य ने आँखों में प्रवेश किया। दिशाओं ने श्रोत्र रूप से कानों में प्रवेश किया। ओषधि-वनस्पतियों ने लोम-रूप से त्वचा में प्रवेश किया। चन्द्रमा ने मन रूप से हृदय में प्रवेश किया। मृत्यु ने अपान रूप से नाभि में प्रवेश किया। जल ने रेत रूप से शिश्न में प्रवेश किया। तब परमात्मा ने देखा कि बिना मेरे यह देह किस तरह रह सकती है? वह सोचने लगा कि प्रवेश किस तरह करूँ। वह इस सीमा (मस्तक) को चीरकर, उसी द्वार होकर, प्रविष्ट हो गया। उस द्वार का नाम विदृति (ब्रह्मरन्ध्र) है। उसने उक्त पुरुष ब्रह्म को (शरीर में) स्थित देख लिया।

इस विवरण से मालूम हो जायगा कि ब्रह्म ही जीवरूप से पुर मे प्रवेश करता है। वह पुर का स्वामी है। इसके द्वारा जीव और ईश्वर का तात्त्विक ऐक्य प्रतिपन्न होता है। इस सम्बन्ध में गीता ने साफ-साफ कह दिया है कि जीव ब्रह्म का ही अंश है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।—गीता, १५।७

सनातन जीव ब्रह्म का ही अंश है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्व्वभूताशयस्थितः।—गीता, १०।२०

हे अर्जुन! सब भूतों की बुद्धि मे स्थित आत्मा (जीव) मैं ही (भगवान्) हूँ।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।—गीता, १३।२

हे अर्जुन! सब क्षेत्रों मे क्षेत्रज्ञ मुझे (भगवान् को) जानना।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतस।

माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुर निश्चयान्॥—गीता, १७।६

जो लोग आसुरिक साधक हैं वे शरीर के भूतग्राम और शरीरस्थ (जीवरूपी) मुझे (ईश्वर को), दुर्बुद्धि के वश होकर, क्लेश देते हैं।

शास्त्र मे अन्य स्थान पर भी इस बात का उपदेश है कि जीवदेह में भगवान् ही जीवरूप मे विराजमान हैं—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥—भागवत, ३।२६।२६

उन सब भूतों को बडे आदर के साथ मन सहित प्रणाम करे, भगवान् ईश्वर ही अंश के द्वारा जीव-रूप मे अवस्थित हैं।

अन्य स्थान में भी उपदेश है—

प्रपूज्य पुरुषं देहे देहिनं चांशरूपिणम्।

भगवान् के ही अंशरूपी देही (जीव) की देह मे पूजा करनी चाहिए।

गीता में ही अन्य स्थान में दृष्टिगोचर होता है कि भगवान् ही देह में देही रूप से विराजमान हैं—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥—गीता, १३।२२

इस देह में परम पुरुष परमात्मा महेश्वर विराजमान हैं, जो साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता भी हैं ।

जीव ब्रह्मांश हैं । ब्रह्म मानो अग्नि है और जीव चिनगारी है ।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

—मुण्डक, २।१।१

[भावाः = जीवाः]

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्व्वे प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।

—बृहदारण्यक, २।१।२०

जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से एक ही सी हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष (ब्रह्म) से विविध जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं ।

जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार उस परमात्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देवता और सब भूत निकलते हैं ।

यह ब्रह्मांश जीव देहरूप पुर में रहता है । किन्तु जीव जिसका अंश है वह ब्रह्म स्वयं भी अन्तर्यामी रूप से जीव के हृदय में रहता है । इसी से तो हृदय का नाम हृदय है ।

स वा एष आत्मा हृदि । तस्य एतदेव निरुक्तम् । हृदि अयमिति । तस्मात् हृदयम् ।—छान्दोग्य, ८।३।३

वह आत्मा हृदय मे विराजमान है। उसकी निरुक्ति (ety-mology) ऐसी ही है। वह हृदय में है, इसी लिए हृदय को हृदय कहते हैं।

गीता मे भी श्रीकृष्ण ने बारम्बार यही उपदेश दिया है—

हृदि सर्व्वस्य धिष्ठितम्।—गीता, १३।१७

सर्व्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।—गीता, १५।१५

ईश्वर• सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।—गीता, १८।६१

वह सब के हृदय में अधिष्ठित है, सब के हृदय में सन्निविष्ट है और सब भूतों के हृदय में विराजमान है।

इस हृदय को उपनिषद् ने स्थान-स्थान पर गुहा कहा है—

गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्।

कहीं कहीं पर इसका नाम पुण्डरीक अथवा हृत्पद्म है—

हृत्पद्मकोशे विलसत् तडित्प्रभम्।—भागवत।

पद्मकोश प्रतीकाशं सुषिरञ्चाप्यधोमुखम्।

हृदयं तद्विजानीयाद् विश्वस्यायतनं महत्॥—ब्रह्मोपनिषद्, ४०

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्यमध्ये विशदं विशोकम्।

—कैवल्य, ११

पद्मकोश प्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्।—नारायण, १२।१

ततो रक्तोत्पलाभास पुरुषायतनं महत्।

दहरं पुण्डरीकं तद्वेदान्तेषु निगद्यते॥—क्षुरिका, १०।

उस हृत्पद्म को थियासफिस्ट लोग Auric body कहते हैं। यही जीव का चरम कोश है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

साधारणत जीव के जिन पॉच कोशों का उल्लेख पाया जाता है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—यह

कोश उनके भी भीतर है। इसी से इसे परकोश कहा गया है। यह ज्योतिर्मय, विद्युत् की भाँति चमकीला है। इसी लिए इसे हिरण्मय कहा गया है। इस कोश को लक्ष्य करके नारायण उपनिषद् ने इस प्रकार कहा है—

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा।
नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यनूपमा॥

यह कोश बहुत ही सूक्ष्म, नये उपजे धान के अगले भाग की तरह और बिजली की तरह चमकीला है। इसी में परमात्मा का निवास है।

तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः।

मैत्रायणी उपनिषद् में यही बात लिखी है—

हृद्याकाशमयं कोशं आनन्दं परमालयम्।—मैत्र, ६।७

नारायण उपनिषद् का भी यही उपदेश है—

दहं विपापं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्।
तत्रापि दहं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्॥

—११।३

अर्थात् देहरूप पुर में एक बहुत ही सूक्ष्म पुण्डरीक विराजमान है। उस पुण्डरीक में जो परम देवता शोकहीन, पापहीन, गगन-सदृश अधिष्ठित है उसकी उपासना करनी चाहिए।

यह पर-देवता ही ब्रह्म है और इसी लिए देह को ब्रह्मपुर कहते हैं। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् का यह उपदेश है—

अथ यदिदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन् अन्तर् आकाशः। तस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यम् तद् विजिज्ञासितव्यम्।

—छान्दोग्य, ८।१।१

इस ब्रह्मपुर (देह) में क्षुद्र पुण्डरीक रूप एक घर है; वहाँ छोटा सा अन्तर् आकाश है। उसके जो भीतर है, उसका अन्वेषण—अनुसन्धान करना चाहिए।

तो यह अन्तराकाश क्या चीज है ? श्रीशङ्कराचार्य इसी आकाश को ब्रह्म कहते हैं। इस आकाश के सम्बन्ध मे छान्दोग्य उपनिषद् कहता है—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश। उभे अस्मिन्द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्व्वं तदस्मिन् समाहितम् इति।

—छा० ८।१।२

वह अन्तर्-हृदय का आकाश इसी आकाश की तरह बृहत् है। स्वर्ग, मर्त्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र—जो कुछ है, और जो नही है—सब उसी के अन्तर्गत है।

अन्यत्र देह को देवालय कहा गया है—

देहो देवालय. प्रोक्त स जीवः केवल शिव.।—मैत्रेयी, २।१

देह को इसलिए देवालय कहते हैं कि यहाँ पर सदाशिव अधिष्ठित हैं।

देह जिस देवता का आलय है वे देवदेव स्वय भगवान् हैं। उपनिषद् में उनका केवल देवशब्द द्वारा अनेक स्थानों पर निर्देश किया गया है। वह द्युतिमान् देवता है, ज्योति का ज्योति है, इसी से उसका नाम देव (दिव् द्योतने) है। वह सर्वव्यापी है और सारे जगत् में अनुस्यूत है, इसी से वह देव (दिव् व्याप्तौ) है। इसी लिए उसका एक नाम विष्णु (वेवेष्टि इति विष्णुः) है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है—

तमीश्वराणा परमं महेश्वर तं देवतानां परमञ्च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

उस ईश्वर के ईश्वर महेश्वर, देवता के देवता परम देवता, पति के पति परम देव को जानना चाहता हूँ, जो भुवन का ईश्वर और सब का पूजनीय है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥—श्वेत० ६।१८

मुक्ति पाने के लिए उस देवता की शरण लेता हूँ जिसने पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया था और उन्हें विद्या प्रदान की थी और जो जीव की बुद्धि को प्रकाशित करता है।

इस परम देव का अधिष्ठान होने से ही देह देवालय है—इस ब्रह्म का आवास होने से ही देह का नाम ब्रह्मपुर है।

देह यदि ब्रह्मपुर है, देह यदि देवालय है, तब तो यह परम पवित्र स्थान है। इसमे किसी अपवित्र वस्तु को स्थान देना ठीक नहीं। इसे सर्वदा शुद्ध, पवित्र और शुचि रखना चाहिए। किसी बुरे विचार या किसी बुरी वासना को रखना ठीक नहीं। देह को किसी कुकर्म मे प्रवृत्त करना अनुचित है। क्योंकि देह देवालय है। इस सम्बन्ध में ईसाई महात्मा सेंट पाल ने कुछ सुन्दर बाते कही हैं—

Know ye not that ye are the temple of God, and that the Spirit of God dwelleth in you? If any man defile the temple of God, him shall God destory, for the temple of God is holy, which temple ye are

1 Corinthians III 16. 17

What? Know ye not that your body is the temple of the Holy Ghost, which is in you, which ye have of God, and ye are not your own? For ye are bought with a price, therefore glorify God in your body, and in your Spirit, which are God's.

Ibid VI. 18 20.

साराश यह है कि देह जब देवालय है, भगवान् के रहने का स्थान है, महेश्वर का मन्दिर है, तब इसे किसी प्रकार से अपवित्र न करना चाहिए। इसे सदा निर्मल, शुद्ध और पवित्र रक्खे जिससे इस देवालय के द्वारा भगवान् की महिमा घोषित हो।

इन तत्त्वों को सुगम करने के लिए भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में नारद के मुँह से पुरञ्जन के उपाख्यान की अवतारणा कराई गई है। उस उपाख्यान का आरम्भ इस प्रकार हुआ है—

आसीत् पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामासीत् सखाविज्ञातचेष्टितः॥

हे राजन्! बड़े यशस्वी पुरञ्जन नाम के एक राजा थे। उनका अज्ञातनामा अज्ञातकर्मा एक सखा था। पुरञ्जन ने रहने लायक पुरी ढूँढने के लिए सारी पृथ्वी छान डाली, किन्तु योग्य स्थान न मिलने से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अन्त में उन्होंने हिमालय के दक्षिण भाग (कर्मक्षेत्र भारतवर्ष) में—

ददर्श नवभिर्द्वार्भिः पुरं लक्षितलक्षणाम्।

नव द्वारों से सुशोभित एक मनोहर पुरी देखी। पुरञ्जन ने उस पुरी मे एक अपूर्व सुन्दरी को देखा। उस रमणी के साथ दस सेवक, सहायक रूप में थे और पाँच फनों वाला एक साँप, चौकीदार के रूप में, सदा उस रमणी की रक्षा किया करता था। उस रमणी को देखकर पुरञ्जन विशेष रूप से आकृष्ट हो गये और उस रमणी ने भी मुसकुराकर राजा को अपना स्वामी बना लिया।

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत्।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीरमोहिता॥

अब पुरञ्जन उस नव द्वारा वाली पुरी में रहने लगे और उस रमणी के दिये हुए कामों का भोग करते हुए वहाँ सौ वर्ष तक रहे।

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः।
तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समाः॥

कहना चाहिए कि यह पञ्चप्राणरूपी सर्परक्षित नव दरवाजों वाला पुर ही मनुष्य की देह है और पुर का स्वामी पुरञ्जन ही जीव है—जोकि दस इन्द्रियों के साथवाली बुद्धि से संयुक्त होकर वहाँ रहता है। जीव जब तक बुद्धि के साथ हिलमिलकर इस पुर में रहता है तब तक

बुद्धि की प्रेरणा से मोह, सुख और आनन्द का लगातार अनुभव किया करता है। योग की भाषा मे इसी को वृत्ति-सारूप्य कहते हैं। निर्मल, शुद्ध जीव बुद्धि के सयोग से वृत्ति के राग मे रञ्जित हो जाता है। रूपक की भाषा मे इसका वर्णन भागवत में है—

क्वचिद् पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षन्त्यां सह जक्षति॥
क्वचिद् गायति गायन्त्यां रुदन्त्यां रोदति क्वचित्।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनुजल्पति॥

वह स्त्री जब मदिरा पान करती थी तब राजा पुरञ्जन भी नशे में चूर हो जाते थे। उसके भोजन करने पर पुरञ्जन का भोजन होता था। उसके पीने पर पुरञ्जन पीते थे। वह स्त्री जब गाती, रोती, हँसती या बकती-झकती थी तब ऐसी ही हालत पुरञ्जन की होती थी। इस प्रकार रमणी के लुभा लेने पर पुरञ्जन अपने स्वभाव को बिलकुल भूल गये। समय पाकर उस स्त्री के गर्भ से पुरञ्जन के बहुत से बेटी-बेटे हुए और वे पुत्र-पौत्र, धन-जन इत्यादि ससारी सम्पत्ति मे आसक्त होकर ममता के अनुरोध से बिलकुल आबद्ध हो गये।

किन्तु जीव की देहस्थिति सदा के लिए नहीं है। क्रमश. बुढ़ापा-रूप भीषण काल ने उस पुरी पर आक्रमण करके उसे ध्वस करना आरम्भ कर दिया। उस पुरी की रक्षा के लिए पुरञ्जन विधिपूर्वक चेष्टा करने लगे। रोग ने आकर बुढापे का साथ दिया। तब पुरी मे तरह तरह के उत्पात होने लगे। उत्पातों के मारे लाचार होकर राजा पुरञ्जन बड़ी अनिच्छा के साथ, उस पुरी को छोडने की तैयारी करने लगे।

गन्धर्व्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम्।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः॥

इसके पहले ही शत्रु के आक्रमण से पुरी के नवों दरवाजे टूट फूट गये थे। अब मौका देखकर पुरञ्जन प्राणरूपी नाग पुर को छोड़ जाने के लिए लाचार हुआ। पशु की तरह फन्दे मे बांधे जाकर पुरञ्जन, शत्रु

के द्वारा, उसके स्थान में पहुँचाये गये। तब पुरञ्जन की वह अपूर्व पुरी चूर चूर होकर धूल मे मिल गई। इस घोर दुर्दशा के समय पुरञ्जन को उस अज्ञातनामा अज्ञातकर्मा सखा का स्मरण करना चाहिए था। किन्तु राजा इस समय ऐसे घबरा गये थे कि उस चिर-स्वरूप हृदय-सखा की एक बार याद तक नहीं की। फल यह हुआ कि शत्रुओ ने लोहे के कुल्हाडे से उनके टुकडे-टुकडे कर डाले। अपने दुष्कर्म के फल से अन्ध नरक मे गिरकर पुरञ्जन ने बहुत समय तक विषम दुःख भोगे। फिर विदर्भराजा के घर वे अपूर्व कन्या के रूप में उत्पन्न हुए।

तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि॥

जीव की न तो जाति है और न वर्ण। न वह स्त्री है और न पुरुष। देह के सयोग से ही वह स्त्री या पुभाव धारण करता है। इस तत्त्व को समझाने के लिए भागवत ने जीवरूप पुरञ्जन को पहले पुरुष और फिर स्त्री रूप में जन्म दिलाया है। उपनिषद् ने भी यही बात कही है—

न स्त्री न पुमान् एष न चैवायं नपुंसकः।

अन्यत्र उपनिषद् ने जीव के देह-सम्बन्ध को लक्ष्य करके कहा है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख॥

—श्वेत० ४।३

जो हो, इस जन्म मे पुरञ्जन विदर्भराजा के यहाँ कन्या के रूप मे विवाह के योग्य हो गये। महाराज मलयध्वज ने स्वयवर-सभा में उनका पाणिग्रहण कर लिया। बहुत समय तक ससार का सुख भोगकर अन्त मे मलयध्वज, भगवान् का भजन करने के लिए, निर्जन पहाडों मे चले गये। चाँदनी जिस प्रकार चाँद के साथ रहती है उसी प्रकार मलयध्वज की रानी भी साथ-साथ गई।

हित्वा गृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम्॥

स्वामी के साथ कठोर तपस्या मे प्रवृत्त होकर, भगवान् में चित्त लगाकर वह देह और मन के मैल को धीरे-धीरे दूर करने लगी। मलयध्वज उन्नत कोटि के साधक थे। थोडे ही समय मे, परब्रह्म में आत्म-समर्पण करके, देह की उपाधि से निर्मुक्त होकर उन्होने निर्वाण प्राप्त कर लिया।

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि।
ईक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह॥

पतिव्रता मलयमहिषी, पति के वियोग से कातर होकर, उस निर्जन घने वन में असहाय दशा मे करुण स्वर से रोने लगी। जङ्गल से लकड़ियाँ एकत्र करके उसने चिता बनाई। उस पर स्वामी की लाश रखकर, पति के साथ सती होने की इच्छा से, उसने चिता मे आग लगा दी। इस अवसर पर वह अज्ञातनामा अज्ञातकर्मा पुरञ्जन-सखा वहाँ पर आ गया। उसने रानी को सम्बोधन करके कहा—

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगवतो गत.॥
हंसा वहञ्च त्वञ्चार्य सखायौ मानसायनौ।
अभूतां अन्तरावौक· सहस्रपरिवत्सरान्॥

हे सखे! अपने इस अज्ञातनामा पूर्वसखा का क्या तुम्हें स्मरण है? मुझे छोड़कर अन्य सुख की प्रत्याशा मे पार्थिव भोग में आसक्त होने से आज तुम्हारी यह दशा है। तनिक अपनी पुरानी बात को तो सोचो। तुम और हम दोनो सखा, दो पक्षियों की तरह, मानस-सरोवर मे विहार करते थे। इस तरह हम लोगों को कई कल्प बीत गये थे। फिर नव दरवाजे वाले एक पुर में, रमणी के दास होकर, तुम अपने आप को भूल गये थे। देखो, न तो तुम पुरञ्जन राजा हो और न मलयध्वज की रानी—यह सब तो मोह है, माया का खिलवाड़ है, जिसके वश में होने से तुम अपने को पुरुष या स्त्री समझ रहे हो।

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमासं स्त्रियं सतीम्॥

हम तुम अलग-अलग नहीं हैं। मैं कूटस्थ चैतन्य हूँ और तुम मेरे जीवरूपी अंश हो। तुम्हारे और मेरे बीच भेद कहाँ है ? तत्त्वमसि। तब मलयध्वज की रानी भूतपूर्व पुरञ्जन ने अपने उस अज्ञातनामा सखा को पहचाना। उसके चित्त की सारी दीनता, मन की सारी मलिनता दूर हो गई और दुबारा अपने स्वरूप की प्राप्ति हो जाने से वह स्वस्थ हो गया।

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥

इस प्रकार उस जीवरूपी हंस को, उस (अज्ञातनामा) हंस के द्वारा समझाये जाने पर, नष्ट हुई स्मृति फिर प्राप्त हो गई। वह स्व-स्वरूप में अवस्थित (स्वस्थ) हो गया।

भागवत में इस स्थल पर जीव और ब्रह्म का वर्णन, दो पक्षियों के रूप में, किया है। ब्रह्म जीव का चिरसखा है। वह अन्तर्यामी रूप में अज्ञातनामा रहकर जीव को सत्पथ पर चलाता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशम् अस्य महिमानम् इति वीतशोकः ॥

दो सुन्दर पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। वे परस्पर सखा हैं। उनमें से एक तो स्वादिष्ट फल को खाता है, और दूसरा खाता नहीं, सिर्फ देखता है। एक ही वृक्ष पर एक (जीव) निमग्न होकर ईश्वरभाव के अभाव में मोहाच्छन्न होकर शोक करता है, किन्तु जब वह अन्य (ईश्वर) को देख लेता है तब उसकी महिमा का अनुभव करके शोक से अतीत हो जाता है।

छठा अध्याय

माया और प्रकृति

(१)

वेदान्त मे जितनी कूट समस्याएँ हैं उनमे यह प्रकृति और मायावाद ही सब से अधिक कूट है। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसकी आलोचना बहुत ही नीरस और कठिन होगी। तथापि वेदान्त के परिचय मे इस प्रसङ्ग की आलोचना अपरिहार्य है।

हम देख चुके हैं कि वेदान्त की अन्तिम वाणी यह है कि ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम्—ब्रह्म एक और अद्वितीय है।

सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।

छान्दोग्य, ६।२।१.

आदि मे एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान था।

अर्थात् ब्रह्म न केवल एक है, बल्कि वह अद्वितीय है।

नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्त यत् पश्येत्।

बृह० ४।३।२३

उसके सिवा जब दूसरा नहीं है तब उससे भिन्न को किस तरह देखेगा?

यत्र वा अन्यदिवस्यात् तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येत् अन्योऽन्यजिघ्रेद् अन्योऽन्यद् रसयेद् अन्योऽन्यद् वदेद् अन्योऽन्यच्छृणुयात् अन्योऽन्यमन्वीत अन्योऽन्यत् स्पर्शेद् अन्योऽन्यद् विजानीयात्।

—बृह० ४।३।३१

यदि और कुछ होता तभी तो दूसरा दूसरे को देखता, सूँघता, चखता, बातचीत करता, सुनता, मनन करता, स्पर्श करता और विशेष रूप से जानता।

अर्थात् ब्रह्म न केवल एक है, बल्कि वह अद्वितीय (One without a second) है। अतएव वेदान्त ने एक स्वर से उसका एकत्व (unity) और उसका अद्वितीयत्व (unequality) बतलाया है।

औरों ने ब्रह्म के एकत्व (unity) * की घोषणा की है सही, किन्तु उसके अद्वितीयत्व (unequality) को इस तरह कौन कह सका है?

सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म।—छा० ३।१४।१

सिवा उसके और कुछ नहीं है।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व्वमिति। —छा० ७।२५।२

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दक्षिण मे और वही उत्तर मे है, उसके सिवा और कुछ नहीं है।

तथापि ऐसे स्थूलदर्शी लोगो की भी कमी नहीं है जो वेदान्तियो को Polytheist बहुदेववादी कहते हैं। वेदान्ती हैं Polytheist, और वे हैं Monotheist एकेश्वरवादी। सच है, वेदान्ती कहते हैं—

संख्या चेत् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीना तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिबिम्बेषु सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥

—देवीभागवत, ६।३।७-८

धूल के कणो की तो गिनती हो सकती है, किन्तु ब्रह्माण्डो की कभी गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु और शिव विराजमान हैं। भला उनकी गिनती कैसे हो सकती है।

* There is no God but God.

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याता पितामहाः।
हरयश्च असंख्याताः * * * ॥

रुद्र असख्य, ब्रह्मा असख्य और विष्णु असख्य हैं। वे एक-एक स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं, किन्तु जो ईश्वर का ईश्वर महेश्वर—परमेश्वर—ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः पर. स महेश्वरः—है वही महेश्वर, वही परमेश्वर एकमात्र है—एक एव महेश्वरः।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।

यही नहीं किन्तु वही महेश्वर परात्पर चरम तत्त्व है।

यस्मात् परं नापरम् अस्ति किञ्चित्।—श्वेत, ३।९

जिससे परे और कुछ नहीं है। गीता मे भी भगवान् ने यही कहा है—

मत्तः परतरं किञ्चिन्नान्यदस्ति धनञ्जय।

हे धनञ्जय! मुझमे परतर और कुछ नहीं है।

ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम् है। ब्रह्म को एक और अद्वितीय कह देने से यह भी कहना हो चुका कि वह निर्दोष भाव से सम (Absolute Homogeneity) है।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म—गीता—५।१९

अर्थात् ब्रह्म मे त्रिविध भेद भी नहीं है।

जगत् मे तीन प्रकार का भेद देख पड़ता है—विजातीय, सजातीय और स्वगत। विभिन्न जाति की दो वस्तुओं में जो भेद होता है वह विजातीय भेद है—जैसे पशु और मनुष्य का प्रभेद। ब्रह्म जब एक है, ब्रह्म के सिवा जब अन्यजातीय पदार्थ है ही नहीं, तब मानना ही पड़ता है कि ब्रह्म मे विजातीय भेद नहीं है। एक जाति की दो वस्तुओं मे जो भेद होता है वह सजातीय भेद है—जैसे राम और श्याम के बीच प्रभेद है। ब्रह्म जब अद्वितीय, समकक्षहीन (Unique) है, तब उसमें सजातीय भेद की सम्भावना कहाँ रही? एक ही व्यक्ति मे जो अवयवगत भेद होता है वही स्वगत भेद है; जैसे एक ही वृक्ष के पत्ते,

शाखा और फल-फूल प्रभृति का प्रभेद। ब्रह्म जब अकल (अवयवहीन) है, वह जब निर्दोषतम, सभी अंशों में एकरूप और आनन्दघन विज्ञानघन है, तब उसमें स्वगत भेद के लिए भी गुञ्जाइश नहीं है।

क्या इतने पर भी वेदान्ती को Polytheist कहना चाहते हो?

ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम्—उसके सिवा और कोई, कुछ नहीं है। किन्तु फिर भी जगत् में नानात्व (polytheist) का भान क्यों हो रहा है? क्यों विविध वैचित्र्य की प्रतीति होती है? क्यों द्वैत अथवा भेद की उपलब्धि होती है? वेदान्त इसका उत्तर देता है—यह वैचित्र्य, द्वैत और नानात्व सत्य नहीं है। क्योंकि—

सर्व्वं खलु इदं ब्रह्म।

ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्।

वही सत्यस्य सत्य (Real Reality) है—तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम्।

ब्रह्म ही सब कुछ है—और कोई कुछ नहीं है। इसी लिए ब्रह्मसूत्र का कहना है—

तथानाप्रतिषेधात्।

उपनिषद् ने ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का प्रतिषेध किया है—नेह नानास्ति किञ्चन।

यह वचन उपनिषद् में अनेक स्थानों पर पाया जाता है—

मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥—बृह० ४।४।१९

यदेवेह तदमुत्र यद् अमुत्र तदन्विह।
मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥—कठ, २।१।१०
मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति॥—कठ, २।१।११

मन के द्वारा यह देखना चाहिए कि यहाँ पर कुछ भी नाना (अनेक) नहीं है। यहाँ पर जो 'नाना' देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

जो यहाँ है वही वहाँ है और जो वहाँ है वही यहाँ है। जो यहाँ पर 'नाना' देखता है उसे मृत्यु से भी मृत्यु प्राप्त होती है।

उपनिषद् की छानबीन करने से मालूम होता है कि श्रुति ने दो तरह से अद्वैत का प्रतिपादन और भेद का निवारण किया है। पहले तो कहा है कि यह जो द्वैत, नाना, भेद है यह मायामात्र है—दूसरे यह कहा है कि जगत् में जो कुछ विविध वैचित्र्य की प्रतीति हो रही है वह सब ब्रह्म की प्रकृति या प्रकार है—उसी का भेद या modes of manifestation है।

अच्छा, पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि द्वैत अथवा नाना मायामात्र किस प्रकार है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया मात्र कहा है—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्—श्वेत, ४।१०

अन्य स्थान में श्रुति ने कहा है कि 'मानो जगत् है', 'मानो द्वैत है', 'मानो दूसरा है', 'मानो नाना है'—अर्थात् द्वैत, नाना, दूसरा वास्तव में है नहीं—उसका तो केवल भान होता है। *

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति इत्यादि।

—बृह० २।४।१४

यत्र वा अन्यदिव स्यात् इत्यादि—बृह० ४।३।३१

य इह नाना इव पश्यति—बृह० ४।४।१६, कठ, २।१।१०, ११

अर्थात् जगत् सचमुच में सत्य नहीं है—मानो है।

इस 'इव' शब्द की ओर ध्यान देना चाहिए। जगत् यदि सचमुच सत्य ही होता, वह यदि मायामात्र न होता तो क्या श्रुति जगत् के

* The world exists, as it were—(इव)

सम्बन्ध में इस 'इव' शब्द का प्रयोग करती ! इसी बात की प्रतिध्वनि करके बादरायण ब्रह्मसूत्र मे कहते हैं—

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—३।२।३

ब्रह्म एकमात्र सत् है—जगत् असत् है—उसका तो सिर्फ भास होता है—मिथ्याज्ञान विजृम्भित च नानात्वम् [२।१।१४ सूत्र का शङ्करभाष्य]।

प्रतीतिमात्रमेवैत भाति विश्वं चराचरम्।
यस्य चित्तमयी लीला जगदेतत् चराचरम्॥

अर्थात् Its esse is its percepi—यह चराचर विश्व प्रतीतिमात्र है—ब्रह्म की चित्तमयी लीला है। यह विराट् विश्व केवल वाक्य है—कहने भर की बात है—mere matter of words—वाचारम्भणम्। इसी से ऋग्वेद के ऋषि ने न जाने कितने युग पहले ही कहा है—

एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति—उस एक सत्य वस्तु को मेधावी व्यक्ति बहुधा कहते हैं। अर्थात् बहु या नाना—वाक्यमात्र है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकेतु के ऋषि-पिता ने दृष्टान्त के द्वारा इसी तत्त्व का उपदेश किया है—

यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मयं विज्ञात स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।—छा० ६।१।४

यथा सौम्येकेन लोहमणिना सर्व्वं लोहमयं विज्ञात स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।—छा० ६।१।५

यथा सौम्येकेन नखनिकृन्तनेन सर्व्वं कार्ष्णायस विज्ञात स्याद् वाचारम्भण विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सौम्य स आदेशो भवतीति।—छा० ६।१।६

हे सौम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से सारी मृण्मय वस्तुएँ जान ली जाती हैं, क्योंकि वे मिट्टी के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाम मात्र को है, मिट्टी ही सत्य है, जिस प्रकार एक

सोने के टुकड़े को जान लेने से सोने की सब वस्तुएँ जान ली जाती हैं, क्योंकि वे सोने के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाममात्र को है, सोना ही सत्य है; जिस प्रकार एक लोहे के टुकड़े को जान लेने से तमाम लोहे की चीजें जान ली जाती हैं, क्योंकि वे लोहे के ही विकार हैं, वाक्य की योजना नाममात्र को हैं, लोहा ही सत्य है; हे सौम्य ! यह आदेश भी वैसा ही है। अर्थात् यह विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है। यह वाक्य की योजना, नाम की रचना और रूप की प्रस्तावना मात्र है।

सर्व्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इव अविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यां अनिर्व्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्व्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योः अभिलप्येते।

—२।१।१४ ब्रह्मसूत्र का शङ्कर-भाष्य।

इस नाम-रूप को शङ्कराचार्य अविद्याकल्पित कहते हैं—

वाचारम्भणमात्रत्वाच्च अविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्य।

—२।१।१७ सूत्र का भाष्य।

ब्रह्म की मायाशक्ति के द्वारा ही यह नामरूप का निर्वाह होता है, किन्तु वह स्वयं नामरूप से अलग है।

अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।—छा० ६।३।२

जीवरूप से अनुप्रवेश करके उसने नाम और रूप का भेद साधन किया।

तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत।—बृह० १।४।७

नाम रूप के द्वारा उसे विभिन्न किया।

आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता।—छा० ८।१४।१

आकाश (ब्रह्म) ही नाम रूप का निर्वाहक है।

ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; जगत् असत्य, मिथ्या है। जैसे सोने के कुण्डल, कड़े, हार प्रभृति बाहरी दृष्टि से विभिन्न जान पड़ते हैं, किसी का रूप कुण्डलाकृति है, किसी की सूरत कड़े जैसी है, किसी का नाम

कुण्डल है, किसी का कड़ा। किन्तु रसायन की दृष्टि से यह केवल नाम-रूप का भ्रम है—वास्तव में न तो कुण्डल है और न कड़ा—है केवल सुवर्ण। उसी तरह एक अद्वितीय ब्रह्म-वस्तु जगत् के आकार में बदलती बदलती है। उसके सिवा और कुछ नहीं है।

इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं इमे लोका इमे देवाः इमानि भूतानि इदं सर्व्वं यदयम् आत्मा। —बृह० २।४।६

ब्रह्म, क्षत्रिय, लोक, देव, और भूत जो कुछ है सब ब्रह्म ही तो है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यही बात है—

स य एष अणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वं तत् सत्य स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो। —छान्दोग्य, ६।८।७

यह जो अणिमा (ब्रह्म) है, तदात्मक ही यह सब है। वही सत्य है, वही आत्मा है—वही तुम हो हे श्वेतकेतु!

अर्थात् जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, और जो कुछ काम हो रहे हैं—वह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सब है, ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है—सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म।

ब्रह्म माया के द्वारा जगत् रूप में प्रतिभात हो रहा है, यह केवल भान मात्र है। इसके द्वारा उसके स्वरूप की किसी प्रकार प्रच्युति नहीं होती। इसी को दर्शन की भाषा में 'विवर्त' कहते हैं।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त्त इत्युदाहृत।

वस्तु के स्वरूप की प्रच्युति हुए बिना अन्य रूप में जो भान होता है उसे विवर्त्त कहते हैं। इसी रीति से ब्रह्म जगत् रूप में विवर्तित होता है—ब्रह्म appears as the world—it is a matter of seeming है। ब्रह्म तो ब्रह्म ही रहता है, किन्तु वही जगत् के रूप में भान होता है। इसी का नाम 'अध्यास' है—अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः—१।१।१ ब्रह्मसूत्र का शङ्कर-भाष्य।

इस प्रकार ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। इस अध्यास को समझाने के लिए वेदान्तियों ने कुछ उपमानों की सहायता ली है। वे

कहते हैं कि सीप में जिस प्रकार चाँदी का अध्यास होता है, रस्सी में जिस प्रकार साँप का अध्यास होता है, मरीचि में जिस प्रकार मरीचिका का अध्यास होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है। कहना न होगा कि उपमान (analogy) ठीक प्रमाण नहीं है। हाँ, उपमान हमारी पङ्गु बुद्धि को दुर्बोध्य विषय समझाने में सहायता देता है। अतएव इन उपमानों की सहायता की अवहेलना करना भी ठीक नहीं। इन तीन उपमानों पर हमें तनिक ध्यान देना चाहिए।

रास्ते के किनारे रस्सी पड़ी हुई है। धुँधले उजेले में उस रस्सी को देखने से हमें जान पड़ा कि साँप लेटा है। हम डर कर भागने को हुए कि इसी समय कोई राहगीर हाथ में मशाल लिये हुए वहाँ आ गया। उसके साफ उजेले में हमने समझ लिया कि जिसे हमने साँप समझा था वह साँप नहीं, रस्सी है। इस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने से हमारा वह अध्यास दूर हो गया जो रस्सी में साँप के धोखे से हुआ था।

एक दिन समुद्र किनारे देखा कि बालू के ढेर में एक सीप पड़ी हुई है। नजर पड़ते ही ऐसा जान पड़ा कि वह चाँदी का टुकड़ा है। चाँदी समझकर हमने हाथ बढ़ाया और उस सीप को उठाने लगे। पास से देखा तो मालूम हुआ कि वह चाँदी नहीं, सीप है। इस प्रकार सीप का ज्ञान हो जाने से हमारा वह अध्यास दूर हो गया जो कि सीप में चाँदी का धोखा होने से हुआ था।

सूर्य की किरणों से मरुस्थल में पानी का भ्रम बहुतों ने प्रत्यक्ष किया है। 'तातल सैकते वारिबिन्दुसम' विद्यापति की कविकल्पना नहीं है। ऐसे जल के भ्रम को मरीचिका कहते हैं। यूरोप में मरीचिका का नाम Muage अथवा Fata Morgana है। श्री शङ्कराचार्य ने वेदान्तभाष्य में कहा है—

यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनां ऊपरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्।

मरीचि में पानी का धोखा किस प्रकार होता है, इसका वर्णन हम नीचे पादटिप्पणी में एक वैज्ञानिक ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं।* पाठक देखेंगे कि एशिया, आफ्रिका और यूरोप सभी जगह यह मरीचिका-भ्रम सदा होता रहता है।

रस्सी में जैसे साँप का भ्रम होता है, सीप में जैसे चाँदी का भ्रम होता है और मरीचि में जैसे मरीचिका-भ्रम होता है वैसे ही ब्रह्म में यह जगत्-भ्रम हो रहा है। फिर जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने से साँप का भ्रम दूर हो जाता है, सीप का ज्ञान हो जाने से चाँदी का भ्रम नहीं रहता और मरीचि-ज्ञान हो जाने से मरीचिका-भ्रम नष्ट हो जाता है

---

* The mirage or Fata Morgana is a very curious but sufficiently common phenomenon and in the Asiatic and African plains it is frequently observed. When the weather is calm and the ground hot, the Egyptian landscape appears like a lake and the houses look like islands in the midst of a widely-spreading expanse of water. This causes the mirage * * Travellers are frequently deceived * * * The Fata Morgana and the inverted images of ships at sea are not uncommon on European coasts Between Sicilly and Italy this effect is seen in the sea of Reggio. with fine effect. Palaces, towers, fertile plains with cattle grazing on them are seen with many other terrestrial objects upon the sea—the palaces of the Fairy Morgana.

—Tissandar's Popular Scientific Recreations P 649.

उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान हो जाने से ब्रह्म मे अध्यस्त जगत् का भ्रम भी दूर हो जाता है।

इसी से वेदान्ती कहते हैं—

यत् तत्त्वं विदुषो निमीलति जगत् स्रग्भोगिभोगोपमम्।

उपनिषद् ने कहा है—

यत्र सर्व्वं आत्मैवाभूद् विजानतः तदा कं केन पश्येत्।

—बृह० २।४।१२

जो विद्वान् है, जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, उसकी दृष्टि मे जगत् नहीं है, केवल परमात्मा ही है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी नामरूप से विमुक्त होकर (तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः—मुण्डक, ३।२।८) एकाकार ब्रह्म के दर्शन करता है।

तब उसे जान पड़ता है—वासुदेवः सर्व्वमिति—सर्व्वं खल्विद ब्रह्म।

ये उक्तियाँ कुछ जल्पना-कल्पना नहीं हैं—यह तत्त्वज्ञानी के बोध के ऊपर है।

किन्तु ऐसी तत्त्वदृष्टि होने से पहले यह जगत्-प्रपञ्च अव्याहत और व्यवस्थित रहता है।

प्राक्च ब्रह्मात्मत्वदर्शनात् वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति।

—३।२।४ सूत्र का भाष्य।

आत्माज्ञानात् जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानात् अहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासते न हि॥
अहो विकल्पितं विश्वं अज्ञानात् मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्य्यकरे यथा॥

—अष्टावक्रसंहिता, २।७।६

अर्थात् आत्म-विषय में अज्ञान होने से यह जगत् भासता है और आत्मज्ञान होते ही वह अन्तर्हित हो जाता है, जैसे रस्सी-विषयक अज्ञान से सर्पभ्रम उत्पन्न हो जाता है और रस्सी-विषयक ज्ञान होते ही वह

भ्रम दूर हो जाता है। सीप मे चाँदी की तरह, रस्सी मे साँप की तरह और मरीचि मे मरीचिका की तरह, अज्ञान से कल्पित यह विश्व मुझ मे भासित हो रहा है। अतएव अज्ञान के दूर होते ही विश्व भी अन्तर्हित हो जायगा।

इससे मालूम हो गया कि वेदान्त के मत से यह विश्व निराधार नही है। वैदान्तिक को किसी किसी ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा है सही, किन्तु वैदान्तिक मायावाद और माध्यमिक बौद्ध का शून्यवाद एक चीज नहीं है।

शङ्कराचार्य ने कहा है—

किञ्चित् हि परमार्थम् आलम्ब्य अपरमार्थं प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पोदयः। तस्मात् प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितम् प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णय.।

अर्थात् रस्सी में अध्यस्त साँप का भ्रम, बाधा पाकर, जिस प्रकार रस्सी मे ही रह जाता है उसी तरह असत्य जगत् बाधित होने पर सत्यस्वरूप ब्रह्म अबाधित रहता है। उपनिषद् ने इस कल्पित विश्व का ही वारण किया है, कुछ ब्रह्म का वारण नहीं किया है। इस सम्बन्ध मे स्वय बादरायण का उपदेश है—

नाभाव उपलब्धे·।—२।२।२८

यह जो माया है, जिसके प्रभाव से ऐसी अघटन घटना होती है, जिसके बल से ब्रह्म मे यह जगत्प्रपञ्च अध्यस्त होता है उसका स्वरूप कैसा है? वेदान्ती कहते हैं कि इस अघटन-घटना-पटीयसी माया के स्वरूप का निर्देश करना असम्भव है। क्योंकि माया = मा या—जो है तो नहीं, लेकिन है।

शङ्कराचार्य ने कहा है—

अव्यक्ता हि सा माया तत्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्।

सूत्र का शङ्कर-भाष्य।—१।४।३

अर्थात् माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है; न तो यह सत्य है और मिथ्या। इसी से वेदान्ती ने कहा—

सदसद्भ्यां अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी। सदसद्भ्यां अनिर्व्वचनीय त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित्।

किन्तु माया का स्वरूप अनिर्वचनीय होने पर भी उसकी प्रणाली को कथञ्चित् हृदयङ्गम करना असम्भव नहीं है।

वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म की यह जो मायाशक्ति है उस शक्ति में दो प्रकार की सामर्थ्य हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण का फल यह है कि जीव ब्रह्म होने पर भी अपने तई ब्रह्म से अलग समझता है और अविद्या अथवा शोक-मोह के अधीन हो जाता है और विक्षेप के बल से जीव के चित्त में यह जगद्भ्रम साधित होता है। फलतः यह विक्षेप शक्ति बहुत कुछ सङ्कल्पशक्ति के अनुरूप है। सङ्कल्पशक्ति = Power of suggestion बाजीगरी (Magic) के खेलों मे हमे इस शक्ति का थोड़ा बहुत परिचय मिलता है।

बाजीगर जब दर्शकों में दृष्टिबन्धन कर देता है तब दर्शकों के मन में दृढ विश्वास हो जाता है कि वे न जाने क्या-क्या देख रहे हैं और न जाने क्या-क्या सुन रहे हैं और मजा यह है कि उनका वह देखना-सुनना निज सङ्कल्प है। वास्तव मे वहाँ पर न तो कुछ देखने को है और न सुनने को ही। यह अघटन-घटना, यह भ्रमप्रकटन बाजीगर की मायाशक्ति नजरबन्दी के द्वारा सिद्ध होता है। इसी लिए बाजीगर (ऐन्द्रजालिक) को मायावी कहते हैं।

इस सम्बन्ध मे श्री शङ्कराचार्य ने २।१।२८ वेदान्तसूत्र के भाष्य में यों लिखा है—

लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि-सृष्टयो दृश्यन्ते। तथा एकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैव अनेकप्रकारा सृष्टिर्भविष्यति।

संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर इस इन्द्रजाल का उल्लेख पाया जाता है। रामायण मे देखते हैं कि मायावी रावण ने इन्द्रजाल-शक्ति के प्रभाव से राम का माया-मस्तक और माया-धनुष उत्पन्न करके सीता को प्रलोभित करने की चेष्टा की थी। रत्नावली मे भी देखते हैं कि मन्त्री यौगन्धरायण के मित्र एक ऐन्द्रजालिक ने अधर में, सिहासन पर बैठे हुए, ब्रह्मा इन्द्र प्रभृति की मूर्तियाँ दिखाकर दर्शकों को मोहित करते हुए अन्त मे काल्पनिक अग्निभय उत्पन्न करके कारागार मे अवरुद्ध नायिका का उद्धार किया था।

मारीच राक्षस का राम-सीता के पास माया-मृगरूप में भासित होना भी इस सकल्पशक्ति का परिचय है। पाश्चात्य देश में अब जो हिप्नटिज्म (Hypnotism) विद्या का विस्तार हो रहा है वह भी उसी प्राचीन बाजीगरी का ही दूसरा रूप है। किसी व्यक्ति को Hypnotic निद्राच्छन्न करके बाजीगर सकल्प-शक्ति के द्वारा बडी सरलता से उसको भ्रम (Hallucination) उत्पन्न कर सकता है। देखा गया है कि जादूगर इस प्रकार से निद्राच्छन्न किये हुए व्यक्ति से कहता है, "एक विकट सिंह तुम्हे निगलने को आ रहा है।" बस, वह तुरन्त ही डर के मारे सिमिट गया। जादूगर ने कडी धूप के समय कहा, "आज बडी ठण्डक है।" और निरे सङ्कल्प के प्रभाव से वह ठण्ड के मारे कॉपने लगा। आकाश में नाम लेने को भी बादल नहीं है और उसने कहा कि मूसलधार पानी बरस रहा है, बस वह पानी मे भीगे हुए का सा अभिनय करने लगा। यह सब सङ्कल्पशक्ति का अघटन-घटना-पटुत्व है।

किन्तु जो असली जादूगर है वह दर्शक को 'हिप्नटिक्' नींद में सुलाये बिना भी उसके मन में भ्रम उत्पन्न कर सकता है। न केवल एक ही व्यक्ति के बल्कि एकत्रित दर्शकमण्डली के मन में एक सर्व-साधारण भ्रम या (Collective Hallucination) उत्पन्न करने के दृष्टान्त भी कुछ विरल नहीं हैं।

बङ्गाल के जादूगरो के एक दल ने एक बार दिल्ली जाकर जहाँगीर बादशाह और उसके मुसाहिबो को इसी प्रकार भ्रम मे डाल दिया था। जहाँगीर ने आत्मचरित मे उस घटना को लिख रक्खा है। हम यहाँ पर, पाद-टिप्पणी मे, उस विवरण का थोड़ा सा अश उद्धृत करते हैं।*

जिसे शून्य मार्ग यानी अधर की सूत्रक्रीडा या Rope Trick कहते हैं वह इसी ढग की जादूगरी है। यह खेल अब तक भारतवर्ष से लुप्त नहीं हो गया है। कुछ समय पहले एक अँगरेज ने इस तमाशे को अपनी आँखों देखकर इसका विवरण एक अँगरेजी सामयिकपत्र में छपवाया था। हमने अपने "गीता मे ईश्वरवाद" ग्रन्थ में, वेदान्त दर्शन की आलोचना के उपलक्ष मे, वह सारा विवरण उद्धृत कर दिया है। सङ्कल्पशक्ति के द्वारा कैसी घटना हो सकती है, यह तमाशा उसका बढिया दृष्टान्त है। इसी से प्रस्तुत लेखक ने उसे

---

* They produced a man whom they divided limb from limb, actually severing his head from the body. They scattered these mutilated members along the ground and in this state they lay for sometime They then extended a sheet of curtain over the spot, and one of the men putting himself under the sheet, in a few minutes came from below, followed by the individual supposed have been cut into joints, in perfect health and condition, and one might have safely sworn that he had never received any wound or injury whatever. Memoirs of the Emperor Jahanguear by Major David Price.

heme of conjuring कहा है। नीचे, टिप्पणी में, उस विवरण का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।*

---

* Having selected his site the Fakir begins operations by producing a ball of string apparently from nowhere, and after tossing it about for a while, throws it high into the air, retaining the free end of the string in his hand Then up and up goes the ball growing smaller and smaller the higher it goes, until it disappears from observation.

* * *

Then you will see the spectacle of a lad of twelve or fourteen summers climbing hard over hand up a line of cotton twine about the thickness of a *large* pin Up and up, higher and higher he goes, until he also appears to vanish behind the clouds which hid the ball.

* * *

Then he (the Fakir) will thrust his arm into his filthy old bag and draw forth the most murderous-looking knife you ever saw, and placing it between his teeth and grasping the twine in both hands, he deliberately begins to climb up the cord, hand over hand, even as the boy had done before him And presently he, too, disappers. By that time his audience, European as well as Native, are gaping skywards like so many idiots

उक्त विवरण से पाठकों को मालूम होगा कि दिन-दोपहर के समय तमाम दर्शकों को दृढ विश्वास हो गया था कि उनकी आँखों के सामने एक मनुष्य के कटे हुए हाथ, पैर, धड़, और मुण्ड खून से तर होकर गिर पड़े और जादूगर ने जब अपनी फैलाई हुई माया को समेट लिया तब उन दर्शकों ने उस मनुष्य को हाथ, पैर, सिर आदि समेत सही-सलामत देखा।

There is half a minute's absolute silence, followed by an agonising yell so piercing that it makes one's flesh creep merely to think of it A second after—though it seems an age—a dark object comes hurtling down from the sky, until, with a sickening thud, it lands on the ground a few feet *in front of the audience.*

*   *   *

Presently down came an arm cut off through the shoulder joint. A moment later the other arm dropped

Then he collected the head, limbs and trunk and tossed them into the old bag While watching this action his audience lost sight of the string and the knife, and never saw them again. Slinging the bag over his shoulder he walked away. This was only a bluff, he had not yet received any bakshis and he never would depart without that He had moved off only a few paces when it was plain that something was moving inside the bag.

वेदान्ती कहते हैं कि इसी तरह सङ्कल्प के बल से ब्रह्म अपनी माया-शक्ति के द्वारा collective Hallucination उत्पन्न करके जीवों को जगद्भ्रम कर देता है। वह तो सब बाजीगरों में सिरमौर है। वह उक्त विक्षेपरूप इन्द्रजाल फैला कर जीवों को मोहित करता है।

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः।
सर्व्वान् लोकान् ईशत ईशनीभि.॥ —श्वेताश्वतर, ३।१

एक मायावी सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर सब लोकों का शक्ति द्वारा शासन करता है। अस्तु; जब जीव का आवरण-मोह हट जाता है, जब जीव स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, जब जीव को ब्रह्म के साथ अपना अभेद उपलब्ध हो जाता है तब—

भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।—प्रश्न, ६।५

वह मुक्त जीव ब्रह्म में मिल जाता है, उसका नाम-रूप विलीन हो जाता है। तब वह एकाकार ब्रह्म उपलब्ध करता है और जगद्भ्रम हट जाने से—ब्रह्म एव इद सर्व्वम्—इस श्रुतिवाक्य की सार्थकता का उसे साक्षात्कार हो जाता है। इस विषय को लक्ष्य करके श्री शङ्कराचार्य्य ने कहा है—

The old man stopped, assumed a surprised expression, put the bag down on the ground and in a moment out crawled the boy as sound in wind and limb as he had ever been. The boy began to smile, and the old man smiling and salaaming came forward for his money. This he got in very liberal amount and off he went, leaving his late audience, standing mystified, confused, flabbergasted.

यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायां इच्छयानायासेनैव उप-संहरति। एवं शरीरोऽपि इमां सृष्टिमुपसंहरेत्—२।१।२१ सूत्र का भाष्य।

वेदान्त का अनुसरण करके हमने इस अध्याय मे यह प्रतिपन्न करने की चेष्टा की है कि वैचित्र्य, द्वैत, नाना, भेद—यह निरी माया है। अगले अध्याय मे ब्रह्मसूत्र के आधार पर ब्रह्मनिरूपण किया जायगा।

सप्तम अध्याय

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का निरूपण

बादरायण-ग्रथित ब्रह्मसूत्र को साधारणतः उत्तरमीमांसा या वेदान्त-दर्शन कहते हैं, उसका आरम्भ है ब्रह्म-जिज्ञासा से। अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा—१।१।१ सूत्र। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा।

ब्रह्म-जिज्ञासा के उत्तर में बादरायण ने ब्रह्मनिरूपण किस प्रकार किया है?

कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रह्म ही मुख्यतः ब्रह्मसूत्र का प्रतिपाद्य है। ब्रह्मसूत्र को लक्ष्य करके भगवद्गीता में कहा गया है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥—१३।५

अर्थात् यह ब्रह्मवस्तु ऋषियों के द्वारा कई तरह से विविध छन्दों में गाई गई है और हेतुयुक्त विनिश्चित ब्रह्मसूत्रपद में वही ब्रह्मवस्तु निरूपित हुई है। गीता में प्रयुक्त 'हेतुयुक्त' और 'विनिश्चित' ये दो विशेषण ब्रह्मसूत्र के सार्थक विशेषण हैं।

आरम्भ में ही बादरायण ने कहा है—शास्त्रयोनित्वात्—१।१।३

'ब्रह्म एकमात्र शास्त्र के लिए ही मेय है'—क्योंकि वेद ही ब्रह्म का एकमात्र प्रमाण है। वेद में ब्रह्म के विषय में जो अनेक विरोध ऊपरी दृष्टि से देख पड़ते हैं, उसकी मीमांसा होना आवश्यक है। पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने कर्म्मकाण्ड वेद की मीमांसा की है। बादरायण इस उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड वेद की मीमांसा में प्रवृत्त हो रहे हैं।

समन्वय के सिवा विरोध की मीमांसा सुसिद्ध नहीं होती—तत्तु समन्वयात्—१।१।४

इस समन्वय का कारण युक्तियुक्त हेतु है। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार हेतु में पञ्चमी विभक्ति है। ब्रह्मसूत्र हेतुद्योतक पञ्चम्यन्त पद से कण्टकित है। यथा—

ईक्षतेर्नाशब्दम्, अन्तर उपपत्तेः, रूपोपन्यासाच्च, आनन्दमयोऽभ्यासात् इत्यादि।

इसी लिए गीता ने ब्रह्मसूत्र को हेतुमत् और विनिश्चित कहा है।

वेद का कर्मकाण्ड संहिता और ब्राह्मण भाग है तथा वेद का ज्ञानकाण्ड आरण्यक और उपनिषद् हैं। कर्मकाण्ड के बाद ज्ञानकाण्ड है। ज्ञानकाड ही वेद का अन्त या चरम भाग है, इसी से इसका नाम वेदान्त है। वेदान्त का निरूपणकारी होने से ब्रह्मसूत्र का नाम वेदान्त-दर्शन है।

विश्व का परम तत्त्व क्या है? यही दर्शन का चरम प्रश्न है। वेदान्त का कहना है कि ब्रह्म ही परम तत्त्व है।

> यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्—श्वेत, ३।९
>
> पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।—कठ, ३।११

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में, इस सम्बन्ध में, पूर्वपक्ष उपस्थित करके उसकी मीमासा की है। वे कहते हैं—आशङ्का हो सकती है कि ब्रह्म से भी श्रेष्ठ कोई तत्त्व है; क्योंकि श्रुति ने कहीं कहीं पर 'सेतु' इत्यादि कहकर ब्रह्म का वर्णन किया है। सेतु का तात्पर्य यह कि मानों उसका अवलम्बन करके उसके परे भी कोई अन्य वस्तु गृहीत है।

> परमतः सेतून्मानसं वन्धभेद व्यपदेशेभ्यः।—३।२।३१
>
> परम् अतो ब्रह्मणः अन्यत् तत्त्वं भवितुमर्हति।
>
> कुतः सेतुव्यपदेशात्—शङ्कर-भाष्य।

यह पूर्वपक्ष है। उत्तर में बादरायण प्रत्येक आक्षेप का खण्डन करते हुए कहते हैं—

सामान्यात् तु। बुद्धयर्थः पादवत्। स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्। उपपत्तेश्च। ब्रह्मसूत्र, ३।२।३२-५

अतएव उनका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म ही चरम तत्त्व है।
अधिक क्या, ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है।

तथान्यप्रतिषेधात्।—ब्र० सू०, ३।२।३६

श्रुति ने ब्रह्म-व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का प्रतिषेध किया है।

ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्। नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि।

ब्रह्म भूमा—असीम है।

भूमा संप्रसादात् अध्युपदेशात्—१।३।८

वह द्युलोक और भूलोक सब का आयतन है।

द्यु-भ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्—१।३।१

और सर्वव्यापी है।

अनेन सर्व्वगतत्वम् आयामशब्दादिभ्यः—३।२।३७

वह अनादि और अक्षर है—उसका क्षय और व्यय नहीं है, उसका आदि और अन्त भी नहीं।

अक्षरम् अम्बरान्तधृते—१।३।१०
असम्भवस्तु सतः अनुपपत्तेः—२।३।९
असत् इति चेत् न प्रतिषेधमात्रत्वात्—२।१।७

वह असत् नहीं—सत्स्वरूप है।
वह चित् है—आह च तन्मात्रम्—३।२।१६

तन्मात्रम्=चैतन्यमात्रम् अर्थात् वह प्रज्ञानघन है। उसी की अनुभाति से सब कुछ विभासित होता है—अनुकृतेस्तस्य च—१।३।२२

अनुकृतिः=अनुभातिः—तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति—कठ,५।१५
वह आनन्द-स्वरूप है—आनन्दमयोऽभ्यासात्—१।१।१२
श्रुति ने बारबार उसके आनन्दत्व को प्रकट किया है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि।

वह आनन्द का विकार नहीं है, आनन्दप्रचुर—आनन्दघन है।

विकारशब्दोन्नेति चेत् न प्राचुर्यात्—१।१।१३

आनन्दादयः प्रधानस्य—३।३।११

सत् चित् आनन्द—ब्रह्म के स्वरूपबोधक इस विशेषण का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए।

सारा विश्व उसका अन्न है, अदनीय है—वह अत्ता है—अत्ता चराचरग्रहणात्—१।२।६

वह विश्वपति, जगत् का शासक है—सा च प्रशासनात्—१।३।११

श्रुति का कथन है—

एतस्य वा प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।

—बृह० ३।८।६

वह विधाता है, जगत् का नियामक है—महद् भय वज्रमुद्यतम्

—कठ, ६।२

भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः।

भीषाऽस्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥—तैत्ति, २।८।१

इस प्रसङ्ग मे बादरायण का सूत्र है—कम्पनात्—१।३।४०

वह अन्तर्यामी—जड़ और जीव, देवता और मनुष्य—सब के अन्तर मे प्रविष्ट होकर सयमन करता है—

अन्तर्य्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्—१।२।१८ सूत्र।

सचमुच ये उसके अश हैं—

अशो नानाव्यपदेशात्—२।३।४३

और स्वरूपत उससे अभिन्न हैं—

आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयन्ति च—४।१।३

सच्चमुच ही वह उनके हृदयाकाश मे दहर रूप मे, विराजमान है—

दहर उत्तरेभ्यः—१।३।१४

अभ्युपगमात् हृदि हि—२।३।२५

गुहा प्रवृष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्—१।२।११

किन्तु फिर भी वह उनकी अपेक्षा अधिक है—अधिकन्तु भेदनिर्दे-शात्—२।१।२२ भेदव्यपदेशाचान्य.—१।१।२१ सूत्र।

वास्तव में जीव का कर्तृत्व उसी से है–परात् तु तत्-श्रुतेः—२।३।४१

ब्रह्म से ही जीव की प्रेरणा है—यही श्रुतिसिद्ध है। यह प्रेरणा जीव के कर्म्मानुसार ही सिद्ध होती है,—नहीं तो शास्त्र का विधि-निषेध निरर्थक हो जाता है।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्य.—२।३।४२

क्योंकि वही जीव का कर्म्मफलदाता है—

फलमत उपपत्तेः—३।२।३८। पूर्व्वन्तु वादरायणो व्यपदेशात्।

२।२।४१ सूत्र।

वेदान्त का प्रतिपादित ब्रह्म सविशेष है या निर्विशेष, सविकल्प है या निर्विकल्प, सोपाधिक है या निरुपाधिक, सगुण है या निर्गुण? अर्थात् ब्रह्म को लक्षण से लक्षित, चिह्न से चिह्नित, विशेष से विशेषित और उपाधि से उपहित किया जा सकता है या नही? वेदान्त की यही चरम समस्या है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—'सर्व्वत्र हि ब्रह्म-स्वरूप-प्रतिपादन-परेषु वाक्येषु अपास्त-समस्त-विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते' अर्थात् उपनिषद् आदि में जहाँ पर ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है वहीं पर उसे समस्त-विशेष-रहित—निर्व्विशेष कहा गया है। अन्य पक्ष मे श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं, निर्व्विशेषे ब्रह्मणि न किमपि प्रमाण समस्ति—निर्विशेष ब्रह्म के सम्बन्ध मे कुछ भी प्रमाण नहीं है। आचार्यों के इस विरोधस्थल पर ब्रह्मसूत्र क्या मीमासा करता है?

पहले तो हमें यह ध्यान देना चाहिए कि ब्रह्म के विषय मे दो प्रकार के श्रुतिवाक्य देख पड़ते हैं। शङ्कराचार्य ने कहा है—

सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषया। सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गा.।

ब्रह्मविषयक दो प्रकार की श्रुतियाँ देखी जाती हैं, एक स-विशेष-लिङ्ग श्रुति—जैसे वह सर्व्वकाम, सर्व्वगन्ध और सर्व्वरस है।। दूसरी निर्विशेष-लिङ्ग श्रुति, जैसे वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है; नाटा भी नहीं है और लम्बा भी नहीं है।

निर्विशेष ब्रह्मविषयक नेति नेति श्रुति का सभी को स्मरण होगा—अथात आदेशो नेति नेति।

'वह यह नहीं है, वह यह नहीं है' उसके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है। वास्तव मे देखा जाय तो इस निर्विशेष ब्रह्म के उपदेश-स्थल मे श्रुति ने 'नञ्' से बहुत काम लिया है।

अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम्—बृहदारण्यक, ३।८।८

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्—कठ, ३।१५

तदेतद् ब्रह्मापूर्व्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। बृहदारण्यक, २।५।१६

वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, नाटा भी नहीं है, लम्बा भी नहीं है। न उसका शब्द है, न स्पर्श, न उसका रूप है, न क्षय। ब्रह्म के पहले या पीछे, भीतर या बाहर अन्य कुछ भी नहीं है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

—मुण्डक, १।१।६

यह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण है, इसके न चक्षु है न कर्ण, न हाथ हैं और न पैर।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम् अव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम् चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

—माण्डूक्य, ७।

जिसकी प्रज्ञा न बहिर्मुख है, न अन्तर्मुख और न उभयमुख ही; जो न प्रज्ञान-घन है, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ ही, जो दर्शन के अतीत, व्यवहार के अतीत, लक्षण के अतीत, चिन्तन के अतीत और निर्देश के अतीत है, जो आत्मप्रत्यय मात्र से सिद्ध है, जो प्रपञ्चातीत (निरुपाधि), शान्त, शिव और अद्वैत है। उसे तुरीय कहते हैं।

इसी लिए उसे अनिर्देश्य, अनिरुक्त और अवाच्य आदि आख्या दी गई है।

एतस्मिन्नदृश्येह नात्म्येह निरुक्ते।—तैत्तिरीय, २।७

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।—कठ, ६।१२

वह वाक्य, मन और इन्द्रिय से अतीत है। विदित और अविदित सभी पदार्थों से वह विभिन्न है।

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि।—केन, १।३

ये सभी निर्व्विशेष लिङ्ग श्रुतिवाक्य हैं।

दूसरी ओर उपनिषद् में सविशेष-लिङ्ग भी अनेक सुन्दर गम्भीर मन्त्र पाये जाते हैं।

नित्यानित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।—बृहदारण्यक, ४।१६

वह नित्य का नित्य और चेतन का चेतन है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।

वह अणु से भी छोटा और महत् से भी बड़ा है।

सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशान सर्व्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्म्मणा भूयान् नो एवासाधुना कर्म्मणा कनीयान् एष सर्व्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय—बृहदारण्यक, ४।४।२२

वह सब का प्रभु, सब का ईश्वर और सब का अधिपति है, अच्छे कर्म्म के द्वारा उसका उपचय नहीं होता, बुरे कर्म्म के द्वारा उसका अपचय नहीं होता, वह सर्व्वेश्वर, भूताधिपति है, वह भूतपाल है, वह लोकों का विभाजक और धारक सेतु है।

एष सर्व्वेश्वर, एष सर्व्वज्ञ, एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्व्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।—माण्डूक्य, ६

वह सर्व्वेश्वर, सर्व्वज्ञ और अन्तर्यामी है, वही विश्व का कारण है, वही सब भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेताश्वतर, ३।१६

उसके हाथ नही, वह ग्रहण करता है, उसके पैर नही, वह गमन करता है, उसके आँखे नहीं, सुनता है, वह सर्व्वज्ञ है पर उसे कोई नही जानता। उसी को महान् पुरुष कहते हैं।

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु' विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प. ।—छान्दोग्य, ८।१।५

वह आत्मा अपापविद्ध, जराहीन, मृत्युहीन और क्षुधा-तृष्णा से हीन है, वह सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है।

इन सविशेष-लिङ्ग और निर्व्विशेष-लिङ्ग श्रुतिवाक्यों को लक्ष्य करके वादरायण ने सूत्र वनाया है—

न स्थानतोऽपि परस्य, उभयलिङ्गं सर्व्वत्र हि—३।२।११
[स्थान=उपाधि, यथा ३।२।३४ और १।२।१४ सूत्र में।]

सर्व्वत्र ही (श्रुति में) ब्रह्म का उभयलिङ्ग (निर्व्विशेष और सविशेष भाव) में उपदेश है, उपाधि सम्बन्ध होने पर भी उसके निर्व्विशेष भाव का विलोप नहीं होता। आक्षेप हो सकता है कि श्रुति मे जब इन दोनों भावों का भेद बतलाया गया है तब ब्रह्म उभयलिङ्ग नही हो सकता।

वादरायण इसका उत्तर देते हैं—

प्रत्येकम् अतद्वचनात्। अपि च एवम् एके—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१२-१३

सब स्थानों में भेद नहीं बतलाया गया है। किसी किसी वेद शाखा में ऐसा (अभिन्न रूप से निर्देश) है, यथा—

एतद् वै सत्यकाम ! परञ्च अपरञ्च ब्रह्म।

हे सत्यकाम ! ब्रह्म के पर और अपर दो विभाव हैं।

फिर भी आक्षेप हो सकता है कि ब्रह्म यदि सविशेष या सोपाधिक होगा तो वह साकार हो जायगा।

इसका उत्तर बादरायण देते हैं—

अरूपवद् एव हि तत्प्रधानत्वात्—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१४

रूपाद्याकार रहितमेव ब्रह्म अवधारयितव्यम् न रूपादिमत्॥ *निराकारमेव ब्रह्म अवधारयितव्यम्—शङ्करभाष्य।

ब्रह्म को निराकार निश्चित करना ही ठीक है। उपाधि से सम्बद्ध होने पर भी वह साकार नहीं है। क्योंकि उसकी उपाधि स्वेच्छाकृत है। यदि कहो कि तब सविशेष लिङ्ग श्रुति की क्या गति होगी, तो उसका उत्तर बादरायण देते हैं—

प्रकाशवत् चावैयर्थ्यात्—३।२।१५

सविशेष भाव उपाधिकृत है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश वातायन (झरोखा) प्रभृति उपाधि के भेद से सीधा और टेढा आदि भाव धारण करता है वही हाल ब्रह्म का भी है।

इस तत्त्व को विशद करने के लिए बादरायण ने जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया है—

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१४

यदि कहो कि यह दृष्टान्त उपपन्न नहीं है तो बादरायण उसका भी उत्तर देते हैं—

वृद्धिह्रास भाक्त्वमन्तर्भावादुभय सामञ्जस्या देवम्।

दर्शनाच्च—३।२।२०-१

उपाधि में ब्रह्म का अन्तर्भाव होने से, गौणभाव से उसकी वृद्धि और ह्रास उपपन्न होते हैं, जैसे जल मे प्रतिबिम्बित सूर्य का, जल के हिलने से कम्पन और जल के ठहर जाने से स्थैर्य होता है।

इस प्रकार सविशेष और निर्विशेष, दोनों ही लिङ्गो का सामञ्जस्य हो जाता है। श्रुति ने भी ऐसा ही दिखाया है यथा—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य।

प्रत्यगात्म रूप से उसने उपाधि मे प्रवेश किया।

आगे के सूत्र मे बादरायण कहते हैं—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति। ततो ब्रवीति च भूयः—३।२।२२

ब्रह्म सोपाधिक होने पर भी वास्तविक पक्ष में ससीम नहीं होता, यही श्रुति का उद्देश्य है। तो श्रुति ने ऐसा कहाँ पर कहा है? जैसे पुरुष सूक्त में—

अतोज्यायाश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।

परम पुरुष ब्रह्म प्रपञ्च के अतीत है, उसका एक चरण सारे भूत हैं और तीन चरण प्रपञ्च से परे हैं। यह निर्विशेष ब्रह्म का परिचय देकर बादरायण ने सूत्र बनाया है—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तः—१।२।२१

यहाँ पर निर्विशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक प्रसिद्ध मुण्डक श्रुति है—

यत्तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम्
अवर्णम् अचक्षु-श्रोत्रम् तद् अपाणिपादम्।
नित्यम् विभुम् सर्व्वगतम् सुसूक्ष्मम् तद्
अव्ययम् यद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः॥

अर्थात् ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, नित्य विभु सर्व्वगत और सुसूक्ष्म है।

तद् अव्यक्तमाह—३।२।२३

वह अव्यक्त, इन्द्रिय मन और बुद्धि के अगोचर है। श्रुति ने ऐसा ही कहा है। यथा बृहदारण्यक—

स एष नेति नेति आत्मा अगृह्यो न हि गृह्यते इत्यादि—३।६।२३

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सूत्र का लक्ष्य भी निर्व्विशेष ब्रह्म है। क्योंकि आगे के ही सूत्र मे ब्रह्म के सविशेष भाव को लक्ष्य करके बादरायण कहते हैं—

अपि संबोधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

सबोधन-समय पर वह योगी के ध्यान गम्य हो जाता है—यही श्रुतिस्मृति का उपदेश है। श्रुति यथा—

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति—कठ, २।१२

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति—कठ, ६।६

स्मृति—यथा,

ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः। इत्यादि

बादरायण कहते हैं कि यह सविशेष ब्रह्म सर्व्वशक्तिमान् और सर्व्वधर्म्मोपेत है।

सर्व्वोपेता च तद्दर्शनात्—२।१।३०

सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च—२।१।३७

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च—१।२।२

यह सविशेष ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करता है—

जन्माद्यस्य यतः—१।१।२

इसी से उपनिषद् में उसका छद्मनाम 'तज्जलान्' है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

यह सविशेष ब्रह्म ही विश्वयोनि है—योनिश्च गीयते—१।४।२७

योनि का अर्थ है कारण। कारण दो प्रकार का है, निमित्त और उपादान। जिस तरह गहने के लिए सोना उपादान-कारण है और सोनार निमित्त-कारण, घड़े के लिए मिट्टी उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त-कारण। तो ब्रह्म जगत् का कौन कारण है—निमित्त या उपादान? बादरायण कहते हैं कि वह दोनों ही है—निमित्त भी और

उपादान भी। जगद्वाचित्वात्—१।४।१६ सूत्र में बादरायण ब्रह्म की निमित्तकारणता को सूचित करके कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्—१।४।२३

ब्रह्म न केवल जगत् का निमित्त-कारण ही है, बल्कि वही निमित्त है और वही उपादान। ब्रह्म से अनुलोम क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, अप् और क्षिति—इन पञ्च तत्त्वों की सृष्टि होती है और विलोम क्रम से ब्रह्म में उनका लय हो जाता है।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च—ब्रह्मसूत्र, २।३।१४

प्रलय के समय विविध विचित्र सृष्टि ब्रह्म में एकीभूत हो जाती है—तमः परे देवे एकीभवति। उस समय एकाकार ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं रहता—

आत्मा वा इदम् अग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्।

प्रलय का अन्त होने पर उसमें 'सिसृक्षा' (सृष्टि की इच्छा) का उदय होता है इसी को श्रुति ने 'काम' कहा है।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि—ऋग्वेद। सः अकामयत बहुः स्याम् प्रजायेय—तैत्ति०।

इस विषय को लक्ष्य करके बादरायण ने सूत्र बनाया है—कामाच्च नानुमानापेक्षा—१।१।१८।

यह सृष्टि कुछ अन्ध प्रचेष्टा नहीं है—यह इच्छामय व्यापार है—ईक्षतेर्नाशब्दम्—१।१।५ सूत्र।

क्योंकि ब्रह्म न केवल भूत-सृष्टि करता है, बल्कि भूत का नाम-रूपव्याकरण भी उसी का किया हुआ है।

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात्—२।४।२०

इस सृष्टि-प्रसङ्ग के सम्बन्ध में बादरायण ने, ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में, एक विचित्र विचार उठाया है। वह विचार यों है—

(क) जगत् अचेतन है और ब्रह्म चेतन। अतएव शङ्का हो सकती है कि चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है। बादरायण इसका उत्तर देते हैं कि इस व्याप्ति का व्यभिचार देख पड़ता है। क्योंकि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति के दृष्टान्त कुछ थोडे नहीं हैं। जिस प्रकार चेतन पुरुष से अचेतन केशों और नखों की उत्पत्ति देखी जाती है (ब्रह्मसूत्र, २।१।४-११)।

(ख) कुम्हार घडे को डण्डे और चक्के प्रभृति सामग्री की सहायता से बनाता है। ब्रह्म के पास जब सामग्री नहीं है तब उसने इस विचित्र जगत् को किस प्रकार उत्पन्न किया ? इस आक्षेप का उत्तर बादरायण यह देते हैं कि सामग्री के बिना भी सृष्टि होते देखी जाती है—क्षीरवद्धि । देवादिवत् अपि लोके—२।१।२४-२५

इसके भाष्य में श्री शङ्कराचार्य्य ने लिखा है—'दूध या पानी, किसी बाहरी साधन की आवश्यकता न रखकर, दही और बर्फ़ के रूप में परिणत हो जाते हैं, वही हाल ब्रह्म का भी है। ब्रह्म एक है सही, किन्तु वह विविध विचित्र शक्तियों से युक्त है। अतएव उसका विचित्र परिणाम असङ्गत नहीं है। और जिस प्रकार देवता, पितर, ऋषि प्रभृति महाप्रभावशाली चेतन (पुरुष), किसी बाहरी साधन की अपेक्षा के बिना ही, अपने अपने ऐश्वर्य-बल से, सङ्कल्प मात्र से ही बहुविध शरीर, महल और रथ प्रभृति बना देते हैं उसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी किसी प्रकार के बाहरी साधन की अपेक्षा किये बिना ही स्वय जगत् की सृष्टि करता है।

(ग) फिर भी आक्षेप हो सकता है कि जगत् यदि ब्रह्म का परिणाम है और ब्रह्म जब कि निरवयव है तब या तो निखिल ब्रह्म ही कार्यरूप में परिणत (विकारग्रस्त) होगा या उसे सावयव कहना पडेगा।

कृत्स्नप्रसक्तिः निरवयवत्व-शब्द-व्याकोपो वा—२।१।२६

इसका उत्तर बादरायण देते हैं—श्रुतेश्च शब्दमूलत्वात्

—२।१।२१

जिस श्रुति ने ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का उपदेश किया है उसी ने कहा है कि ब्रह्म विकारग्रस्त हुए बिना ही अवस्थित है। उसके एक अंश मे सारे भूत हैं और अन्य तीन अंशों में अमृत है। अतएव ब्रह्म के विकार की आशङ्का कहाँ रही ?

(घ) फिर भी आक्षेप हो सकता है कि ब्रह्म जब विकरण (इन्द्रिय-वर्जित) है तब वह किस प्रकार सृष्टि-कार्य को सम्पन्न करेगा ? बादरायण उत्तर देते हैं कि श्रुति का उपदेश यह है कि ब्रह्म करण के बिना ही कर्म्म करता है।

विकरणत्वाद् इति चेत् तदुक्तम्—२।१।३१

उनकी लक्षित श्रुति यह है—अपाणिपादो जवनो गृहीता। पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्ण.॥

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना। बिना ही आँखों के देखता और बिना ही कानों के सुनता है।

(ङ) फिर भी आक्षेप हो सकता है कि ब्रह्म जब आप्तकाम है तब फिर किस मतलब से—किस कमी को दूर करने के लिए—वह सृष्टिकर्म्म मे प्रवृत्त होगा ? बादरायण उत्तर देते हैं—

लोकवत् तु लीला कैवल्यम्—२।१।३३

सृष्टि उसका लीला-विलासमात्र है, जिस प्रकार बालक बिना प्रयोजन के भी क्रीड़ा करता है उसी प्रकार ब्रह्म का सृष्टिकार्य भी है।

(च) फिर भी आपत्ति हो सकती है कि जगत् जब वैषम्य के आधार पर है—यहाँ पर जब कोई दुखी है और कोई सुखी, कोई धनी है कोई दरिद्र, तब जगत् यदि ब्रह्म की रचना हो तो या तो वह पक्षपाती है या निष्ठुर।

इसका उत्तर बादरायण देते हैं—

वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति—२।१।३४

जीव के अनादि कर्म्म के अनुसार ब्रह्म सृष्टि करता है। जिसका सुकृत है उसे सुखी कर देता है और जिसका दुष्कृत है उसे दुखी

करता है। इसमें उसके पक्षपात या निष्करुणता का प्रसङ्ग नहीं उठ सकता।

ब्रह्म के साथ जगत् का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर बादरायण देते हैं—

तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः—२।१।१४

जगत् ब्रह्म से अनन्य (अभिन्न) है—आरम्भण-श्रुति का ऐसा ही उपदेश है। यहाँ पर निम्नलिखित छान्दोग्य श्रुति उनका लक्ष्य है—

यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मय विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम् एवं सौम्य स आदेशः।

जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से सारी मृण्मय वस्तुएँ जान ली जा सकती हैं, क्योंकि वाक्य का आरम्भ विकार है, नाम का भेदमात्र है—सिर्फ मिट्टी ही सत्य है—वैसा ही उपदेश ब्रह्म के सम्बन्ध में भी है। अर्थात् एक ब्रह्म को जान लेने से ही सब वस्तुएँ जान ली जाती हैं। क्योंकि जगत् में और ब्रह्म में नाम रूप का प्रभेद मात्र है—दोनों स्वरूपतः अभिन्न हैं। जिस प्रकार कुण्डल कड़ा हार प्रभृति सोने के गहनों में नाम रूप का भेद होने पर भी रासायनिक की दृष्टि में वे सब सोने के सिवा और कुछ नहीं हैं, उनके बीच आकार और सज्ञा का भेद होने पर भी रासायनिक की दृष्टि में वे सब सोने के सिवा और कुछ नहीं हैं, उनके बीच आकार और सज्ञा का भेद होते हुए भी वे सब सुवर्ण ही हैं—उसी प्रकार जगत् के विविध वैचित्र्यमय होने पर भी ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है। जीव और जड़, भोक्ता और भोग्य, प्रधान और पुरुष उसी की प्रकृति है—अर्थात् यह सब प्रकार या भेद (aspect) मात्र है।

एकमेव ब्रह्म नानाभूत-चिदचित्-प्रकारं नानात्वेन अवस्थितम्।

—सर्व्वदर्शनसंग्रह।

सा परापरसम्भिन्ना प्रकृतिस्ते सिसृक्षया।

एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को सिसृक्षा या सृष्टि का सङ्कल्प होने पर उसकी प्रकृति परा और अपरा रूप मे, जीव और जड रूप में, सभिन्न होती है। अब जो जिसका प्रकार या भेद है वह क्या उससे अनन्य नहीं है ?

भोक्ता और भोग्य, प्रकृति और पुरुष ब्रह्म के ही विभाव या भेद हैं, इसका समर्थन बादरायण ने निम्नोक्त सूत्र मे किया है—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्यात् लोकवत्—२।१।१३

इसके भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—

यदि कोई आपत्ति करे कि ब्रह्म को जगत् का कारण कहने से भोक्ता और भोग्य का प्रसिद्ध विभाग लुप्त हो जायगा तो बादरायण उत्तर देते हैं—'स्यात् लोकवत्'—नहीं ऐसा कहने से उस विभाग को तनिक भी आँच नहीं लगती; क्योंकि लोक मे ऐसा देखा जाता है। जैसे समुद्र मे फेन, वीचि, तरङ्ग, बुलबुला प्रभृति परस्पर भिन्न हैं, किन्तु वे सब जल के ही विकार हैं—अतएव जलात्मक समुद्र से अभिन्न हैं, फिर भी उनका परस्पर सश्लेष देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्म के सम्बन्ध मे भी यह भोक्ता और भोग्य का उपयोग समझना चाहिए। तरग प्रभृति सभी जलात्मक जल से अभिन्न होने पर भी जिस तरह उनका विभाग विलुप्त नहीं होता, फेन फेन ही रहता है, तरग तरग ही रहती है, उसी तरह भोक्ता और भोग्य, प्रकृति और पुरुष यद्यपि दोनो ही ब्रह्मात्मक हैं, ब्रह्म से अभिन्न हैं, तो भी उनका परस्पर का भेद लुप्त नहीं होता।

जो हो, प्रश्न होता है कि सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म एक ही वस्तु हैं अथवा इनके तत्त्व मे अन्तर है ? बादरायण उत्तर देते हैं—सविशेष और निर्विशेष, सगुण और निर्गुण कुछ भिन्न तत्त्व नहीं है—एक अद्वितीय ब्रह्म का विभिन्न विभावमात्र है।

प्रकाशादिवच्च अवैशेष्यम्। प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्—

ब्रह्मसूत्र ३।१।२५

बादरायण कहते हैं कि इसका दृष्टान्त प्रकाश है। झरोखे में आया हुआ सूर्य का प्रकाश क्या आकाशव्यापी प्रकाश से भिन्न है? दोनों में केवल उपाधिकृत भेद है।

बादरायण ने अन्यत्र भी यही बात कही है—

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह— ४।४।१९ सूत्र

विकारावर्ति अपि नित्यमुक्तं परमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्र गोचरम्। × × × तथाहि अस्य द्विरूपां स्थितिमाह आम्नायः— एतावान् अस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।—शङ्करभाष्य।

अर्थात् ब्रह्म के दो भाव हैं, एक विकारवर्ति, विश्वानुग (सविशेष), और दूसरा निर्विकार, विश्वातिग (निर्विशेष)। श्रुति ने उसकी इस द्विरूप स्थिति का ही उपदेश किया है। निर्विशेष ब्रह्म जब माया-उपाधि अङ्गीकार करके अपने को मानों आवृत्त कर लेता है तब उसका जो भाव होता है वह उपाधिजनित ससीम भाव ही सविशेष भाव है।

यस्तूर्णनाभि इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।—श्वेत, ६।१०

जब इस उपाधि का तिरोभाव हो जाता है तब ब्रह्म के स्वेच्छाकृत ससीमभाव का तिरोभाव होकर वह असीम अनन्त रूप में विराजमान हो जाता है। इसी लिए बादरायण ने सूत्र बनाया है—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम्—ब्रह्मसूत्र, ३।२।२६

श्रुति ने ऐसा ही ब्रह्म के लिंग (लक्षण) का उपदेश किया है। अतएव सगुण और निर्गुण सविशेष और निर्विशेष कुछ भिन्न तत्त्व नहीं हैं।

बादरायण ने अन्य दृष्टान्त द्वारा भी इसी बात को स्पष्ट किया किया है—जिस प्रकार अहिकुण्डल—साँप और उसकी कुण्डली।

उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्—ब्रह्मसूत्र, ३।२।२७

अत उभयव्यपदेशदर्शनात् अहिकुण्डलवत् अत्र तत्त्वं भवितुमर्हति × × × यथाहि अहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनि इति भेद-एवमिहापीति। —शङ्करभाष्य।

जब भेद और अभेद दोनों का ही उपदेश है तब तत्त्व को अहि-कुण्डलवत् समझना चाहिए। इस प्रकार देखने मे अभेद है और कुण्डल के विस्तार तथा उच्चता आदि को देखने से भेद है; ब्रह्म का भी यही हाल है।

सगुण और निर्गुण, सविशेष और निर्विशेष के भेदाभेद को स्पष्ट करने के लिए बादरायण और भी कहते हैं—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् पूर्ववद्वा—ब्रह्मसूत्र, ३। २। २८—२९

ब्रह्म जब तेज.स्वरूप है तब ज्योति के दृष्टान्त से भी सविशेष और निर्विशेष का उपाधिगत भेद और स्वरूपगत अभेद प्रतिपन्न होता है।

जिस प्रकार सफेद ज्योति रङ्गीन कॉच के सयोग से लाल और पीले रङ्ग की हो जाती है, अथवा जैसे आधार के भेद से प्रकाश टेढा और सीधा आकार धारण कर लेता है—उपाधि योग से ब्रह्म का भी वैसा ही रूप होता है। वास्तव मे वह तो असीम है; किन्तु सोपाधिक होने पर वह ससीम जान पडता है। स्वरूपतः वह निर्गुण है, परन्तु उस दशा मे वह सगुण जान पडता है। वह वास्तव मे निष्क्रिय है, किन्तु उस दशा में वह सक्रिय जान पडता है। फिर भी शास्त्र ने इस सगुण और निर्गुण के, सविशेष और निर्विशेष के वस्तुगत भेद का निषेध किया है।

प्रतिषेधाच्च—ब्रह्मसूत्र, ३। २। ३०

एतद् वै सत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म—प्रश्न, ५। २

द्वे परब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च—मैत्रा, ६। २२

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तं चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितं च यत्त्च, सत् च त्यत् च ।—बृह० २ । ३ । १

इन श्रुतियों को लक्ष्य करके शङ्कराचार्य कहने को बाध्य हैं—

द्विरूप हि ब्रह्म अवगम्यते नामरूपभेदोपाधि-विशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधि विवर्जितम्—१ । १ । ११ सूत्र का भाष्य

श्रुति मे ब्रह्म के दो रूपो का उपदेश है—एक नाम रूप-भेदोपाधि-विशिष्ट और दूसरा इसके विपरीत सारी उपाधियो से विवर्जित । इससे सिद्ध है कि बादरायण के द्वारा अनुमोदित इस भेदाभेद—इस सगुण और निर्गुण, सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म का ऐक्य ही श्रुतिमान्य है।

अष्टम अध्याय

भूमा-वाद

१—अद्वैत मत

आजकल अँगरेजी भाषा मे 'पैनथिइज़िम' (Pantheism) शब्द प्रचलित हो गया है। Pan और Theos इन दोनो यूनानी शब्दो के योग से 'पैन-थिइज़िम' शब्द उत्पन्न हुआ है। Pan का अर्थ है All (सब) और Theos का अर्थ है God (ब्रह्म) अतएव 'पैन-थिइज़िम' शब्द का अर्थ है सर्व-ब्रह्म-वाद यानी 'सर्व्वं खल्विद ब्रह्म'—'यह सब ब्रह्म ही है'। यह मतवाद वेदान्त में सुपरिचित है—उपनिषद् की भाषा मे इसे 'भूमा-वाद' कहा जा सकता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में इस भूमा-वाद का विस्तृत उपदेश है। उस उपदेश का सक्षिप्त विवरण यह है—

एक दिन नारद ने महामहर्षि सनत्कुमार के पास आकर कहा—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।

नारद जब शिष्यभाव से भगवान् सनत्कुमार के पास आये तब सनत्कुमार ने उनसे कहा, तुम जितनी विद्या प्राप्त कर चुके हो, वह मुझे बतलाओ। जो उससे अधिक है उसका उपदेश मैं करूँगा। नारद ने कहा, 'ऋग्वेद, यजुर्व्वेद, सामवेद, अथर्व्ववेद, इतिहास, पुराण, राशि,

दैव, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और देवजन-विद्या आदि सारी वेद-विद्याएँ मैं पढ चुका हूँ। मैं मन्त्रविद् मात्र हूँ, मैं आत्मविद् नहीं हूँ।

सोऽहं भगव शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु।

—छा० ७।१।२

हे भगवन्! फिर भी मैं शोक के अधीन हूँ। मुझे शोक के पार पहुँचाओ। तब भगवान् सनत्कुमार ने सोपानक्रम से चढते हुए—एक के बाद एक—नारद को भूमातत्त्व का उपदेश दिया। सनत्कुमार ने कहा—"भूमैव सुखम् माल्पे सुखमस्ति"—भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। यह भूमा क्या है? इसका उत्तर सनत्कुमार देते हैं—

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यत् विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् शृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ ऽदल्प तन्मर्त्यम्—छा० ७।२४।१

जहाँ पर अन्य वस्तु का दर्शन नहीं होता, अन्य वस्तु का श्रवण नहीं होता, अन्य वस्तु का मनन नहीं होता, वही भूमा है, और जहाँ अन्य वस्तु का दर्शन होता है, अन्य वस्तु का श्रवण होता है और अन्य वस्तु का मनन होता है वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है। जो अल्प है वह मर्त्य है। इस विषय में सन्देह नहीं रह सकता कि यह एकाकार-भाव-सिद्ध द्वैत-रहित भूमा ही 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म है। क्योंकि अद्वैत ब्रह्मवस्तु ही निखिल भेदहीन और समस्त द्वैत-वर्जित है। उसमें नानात्व का, भेद का, वैशिष्ट्य का सर्वथा अभाव है।

नेह नानास्ति किञ्चन

इस अद्वैत ब्रह्मतत्व को बृहदारण्यक उपनिषद् ने प्रायः छान्दोग्य की ही भाषा मे बड़े सुन्दर भाव से विवृत किया है—

यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं अभिवदति तदितर इतर मनुते तदितर इतरं विजानाति।

यत्र वा अस्य सर्व्वमात्मैवाभूत तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन क पश्येत् तत् केन कं शृणुयात् तत् केन कं अभिवदेत् तत् केन क मन्वीत तत् केन कं विजानीयात्—बृह० २। ४ १४

अर्थात् जहाँ पर द्वैत का भान होता है वहीं पर दूसरा दूसरे को सूंघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा दूसरे को सुनता है, दूसरा दूसरे से बोलता है, दूसरा दूसरे को मनन करता है और दूसरा दूसरे का विज्ञान करता है, किन्तु जहाँ सभी कुछ आत्मा (ब्रह्म) हो जाता है वहाँ कौन किसे देखेगा, कौन किसे सुनेगा, कौन किससे बोलेगा, कौन किसका मनन करेगा और कौन किसका विज्ञान करेगा ?

इसी भूमा वस्तु का विवरण करके सनत्कुमार ने और भी कहा—

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व्वम्।

—छा० ७। २५। १

और आत्मा के साथ ब्रह्म का एकत्व ख्यापन करके कहा—

आत्मैवाधस्ताद् आत्मोपरिष्टाद् आत्मा पश्चाद् आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणत आत्मा उत्तरत आत्मैवेदं सर्व्वम्।

—छा० ७। २५। १

वही नीचे, वही ऊपर, वही आगे, वही पीछे है। वही उत्तर में वही दक्षिण में है। वही यह सब कुछ है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा

ही दक्षिण में है, आत्मा ही उत्तर में है—जो कुछ है, सब आत्मा ही है। *

इस प्रकार भूमातत्त्व का उपदेश करके भगवान् सनत्कुमार महर्षि ने नारद को तमस् के उस पार कर दिया था।

अस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

छा० ७।२६।२

---

* यही भाव मैत्रायणी उपनिषद् में भी है—

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीदेकोऽनन्त प्रागनन्तो दक्षिणतोऽनन्त' प्रतीच्यनन्त उदीच्यनन्त ऊर्ध्वञ्च अवाङ्च सर्व्वतोऽनन्त ।

न ह्यस्य प्राच्यादि दिशः कल्पन्तेऽथ तिर्य्यग्वाऽवाङ्वोर्ध्वं वाऽनूह्य एव परमात्माऽपरिमितोऽज॰ —६।१७

ब्रह्म ही आगे यह था एक और अनन्त, . पूर्व में अनन्त, पश्चिम में अनन्त, दक्षिण में अनन्त, उत्तर मे अनन्त, ऊपर अनन्त, नीचे अनन्त, सब ओर अनन्त। उसके लिए पूर्व्व पश्चिम का भेद नहीं। उत्तर दक्षिण का भी भेद नहीं, ऊपर नीचे का भी भेद नहीं। वह निराधार, अपरिमित और अज है।

अन्यत्र भी उपनिषद् ने इस विराट् भूमावस्तु को लक्ष्य करके कहा है—

नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्—श्वेत, ४।१६

न ऊपर न बीच में न बग़ल में—किसी ओर से भी उसको वेष्टन नहीं किया जा सकता।

इसी भूमा तत्त्व का अस्पष्ट साक्षात् पाकर अर्जुन ने गीता में कहा है—हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! तुम्हारा आदि अन्त और मध्य कुछ भी मुझे ढूंढे नहीं मिलता।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

अतएव भूमातत्त्व का सारांश यह है कि 'स एवेद सर्व्वम्'—वही यह सब है—वही है—अखण्ड अद्वैत ब्रह्मवस्तु,—और कहीं कुछ नहीं है।

ऋग्वेद के ऋषि ने बहुत पहले कहा था—

पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

भूतकाल में जो कुछ था, भविष्यत् में जो कुछ होगा और वर्तमान में जो कुछ है, यह सब वही परम पुरुष (ब्रह्म) है।

उपनिषद् के अनेक स्थानों में भी हमें यही उपदेश मिलता है—

ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्—नृसिंहतापनी, ७

ब्रह्म ही सब कुछ है।

आत्मैवेद सर्व्वम्—छान्दोग्य, ७।२५।२

यह सब आत्मा ही है।

'ब्रह्मैवेद सर्व्वम्'—यह सब ब्रह्म ही है। वही एक अद्वितीय तत्त्व है। यदि यही बात है, यदि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं—यही निश्चित है, तो हमें यह जो विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् प्रतिक्षण दिखाई दे रहा है, इसकी क्या गति होगी? हम देखते हैं कि जगत् मौजूद है। हम कैसे कह दें कि जगत् नहीं है, एक ब्रह्म वस्तु ही है? और यदि यह बात न कह सके तो भूमा-वाद की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है?

अद्वैत वेदान्त ने इस प्रश्न का समाधान सरलता से कर दिया है। अद्वैतवादी कहते हैं कि रस्सी में जिस प्रकार साँप का भ्रम होता है, सीप में जिस प्रकार चाँदी का भ्रम होता है, मरीचि (सूर्य की किरण) में जिस प्रकार मरीचिका का भ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का भ्रम हो रहा है। यह निरा भ्रम ही है। इसके द्वारा जगत् का वास्तविक अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। भ्रान्त दृष्टि से रस्सी में साँप

का भ्रम होने पर भी रस्सी जिस प्रकार रस्सी ही बनी रहती है, साँप नहीं बन जाती, सीप मे चाँदी का भ्रम होने पर भी जिस प्रकार सीप सीप ही बनी रहती है, चाँदी नहीं बन जाती, सूर्य की किरण मे पानी का भ्रम होने पर भी जिस प्रकार मरीचि मरीचि ही बनी रहती है, मरीचिका मे परिणत नहीं होती, उसी प्रकार दृष्टिविभ्रमवश एकमेवाद्वितीय ब्रह्म मे जगत् का अध्यास होने पर भी ब्रह्म ब्रह्म ही रहता है, जगत् रूप मे परिणत नहीं होता। यही विवर्त्तवाद है।

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥

—माण्डूक्यकारिका।

जिस प्रकार अँधेरे मे धुँधली सी देखी हुई रस्सी मे साँप की कल्पना हो जाती है उसी प्रकार अज्ञानवशात् परमात्मा मे यह प्रपञ्च कल्पित है।

मृगतृष्णा जलचये कैवास्था मर्गभस्मनि।
भ्रान्तयश्च न तत्रान्यास्तास्तत्रैव च पर पदम्॥

—योगवाशिष्ठ ४४.२१

मरुस्थल मे जिस प्रकार प्यासे को पानी का धोखा होता है उसी प्रकार परब्रह्म मे यह सृष्टिभ्रम है। यह निरी भ्रान्ति है। अतएव सृष्टि जब अलीक, भ्रान्तिमात्र है तब जिस आधार मे यह जगत् के भ्रम का अध्यास है उस आधार का ज्ञान होते ही जगत् का भ्रम भी खण्डित हो जाता है। तब हम समझ सकते हैं कि जैसे साँप, चाँदी और मरीचिका कल्पनामात्र है, रस्सी, सीप और मरीचि ही सत्य पदार्थ है, उसी प्रकार कल्पित जगत् के आधार—एकमेवाद्वितीय ब्रह्म—का ज्ञान ज्योंही जीव को हो जाता है त्योंही ब्रह्म मे अध्यस्त जगत् का भ्रम तिरोहित हो जाता है, उस समय एकाकार ब्रह्म के सिवा और किसी की प्रतीति नहीं रह जाती। इसी लिए गौडपादाचार्य माण्डूक्य कारिका मे कहते हैं—

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्त्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥

जिस प्रकार साँप के भ्रम की आधार रस्सी को रस्सी समझ लेते ही साँप का भ्रम नहीं रहता, उसी प्रकार परमात्मा को जान लेने से द्वैतभ्रम निवारित होकर अद्वैत की ही प्रतिष्ठा होती है। इस बात की प्रतिध्वनि करके प्रबोध-चन्द्रोदयकार कहते हैं—

यत् तत्त्वं विदुषां निमीलति जगत् स्रग्भोगि भोगोपमम् ।

जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने से साँप का भ्रम दूर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान हो जाने से जगत् का भ्रम मिट जाता है। इस एकाकार अवस्था को लक्ष्य करके ईश उपनिषद् ने कहा है—

यस्मिन् सर्व्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥—७

जब ज्ञानी की दृष्टि में सब पदार्थ आत्मा ही हो जाते हैं तब उस एकत्व-दर्शी के लिए शोक और मोह का अवसर नहीं रहता। क्योंकि तब तो सभी कुछ अद्वैत जान पड़ता है। इस एकत्व-दर्शन के सम्बन्ध में गीता ने यह उपदेश दिया है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

जीव जब भूतगण के पृथक् भाव को एकमात्र ब्रह्म में स्थित देखता है और ब्रह्म से भूतगण के विस्तार को लक्ष्य करता है तब वह ब्रह्म हो जाता है।

इस तत्त्व को विशद करके बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—

यत्र त्वस्य सर्व्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत् केन क जिघ्रेत् तत् केन कं रसयेत् तत् केन कमभिवदेत्तत् केन कं श्रृणुयात्तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं स्पृशेत्तत् केन कं विजानीयात्।—४।१।१२

जब सभी कुछ आत्मा हो जाता है, आत्मा के सिवा और कुछ नहीं रहता, तब कौन किसे देखे, कौन किसे सूँघे, कौन किसे चखे, कौन किससे बोले, कौन किसकी सुने, कौन किसका मनन करे, कौन किसे छुए और कौन किसे जाने? अर्थात् इस अवस्था में, ब्रह्म मे अध्यस्त जगत् बिलकुल तिरोहित हो जाता है और केवलमात्र अद्वैत एकमेवाद्वितीय 'ब्रह्मवस्तु' ही प्रतिभात हुआ करती है। अतएव ब्रह्मरूप आधार मे विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् का अध्यास रहने पर भी विवर्त्तवादी अद्वैत वेदान्त के मत से 'सर्व्वं खल्विद ब्रह्म'—'एक ब्रह्म ही है, और कुछ भी नहीं है'—इस भूमा-वाद को तनिक भी आँच नहीं लगती।

प्रश्न हो सकता है कि न होने पर भी जगत् वर्तमान है—ऐसी जो प्रतीति होती है—

प्रतीतिमात्र मेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्।

इसका क्या कारण है? अद्वैत वेदान्त इसका उत्तर देता है कि यह तो मायाशक्ति के विक्षेप सामर्थ्य का फल है। यह माया का स्वभाव ही है कि वह अघटन घटन करा सकती है, जगत् नहीं है, लेकिन उसके मौजूद होने की प्रतीति करा सकती है, माया की ऐसी ही करामात है। इसी से उन्होंने माया को 'अघटन-घटना-पटीयसी' विशेषण लगाया है। माया के इस सामर्थ्य को सङ्कल्पशक्ति (power of suggestion) कहा जा सकता है। बाज़ीगरी के खेल के समय हमें बाजीगर में इस शक्ति का परिचय मिलता है। बाजीगर जब दर्शक के सामने बाजीगरी फैलाता है तब दर्शक के मन में पक्का विश्वास हो जाता है कि वह न

जाने क्या क्या देख-सुन रहा है। रामायण में देखते हैं कि रावण ने, संकल्पशक्ति के प्रभाव से, राम के मायामुण्ड और धनुष का भ्रम उत्पन्न करके सीता को लुभाने की चेष्टा की थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि बाज़ीगर का मायाप्रसूत दर्शन और श्रवण कोरा भ्रम ही है। वास्तव में वहाँ पर देखने या सुनने को कुछ भी नहीं है।

हम सातवें अध्याय में बतला चुके हैं कि आजकल पाश्चात्य देश में जिस Hypnotism विद्या का प्रवर्तन हुआ है वह इसी प्राचीन बाजीगरी का रूपान्तर है। जिन्होंने hypnotic परीक्षाएँ देखी हैं उन्हें इस विषय में सन्देह न होगा कि संकल्पशक्ति के द्वारा अघटन घटना कराई जा सकती है। किसी व्यक्ति को hypnotise करके यदि जादूगर संकल्प द्वारा उसको भ्रम उत्पन्न करने की चेष्टा करे तो सहज में ही वह भ्रम उससे सत्यरूप में मनवाया जा सकता है। अनेक स्थानों में देखा गया है कि जादूगर ने हिप्नटिक निद्रा से आच्छन्न व्यक्ति से कहा कि तुम्हारे सामने साँप या सिंह है तो वह तुरन्त डर के मारे सिमट गया। उसने गर्मी के समय कहा कि आज बड़ी ठण्ड है; और सङ्कल्प करते ही वह मारे जाड़े के थर थर काँपने लगा। कहीं पर कुछ नहीं है और कहा कि मूसलधार पानी बरस रहा है, बस वह पानी में भीगने का अभिनय करने लगा। ऐसे अनेक अघटनों को हिप्नटिज्म द्वारा घटित कराते देखा गया है।

अद्वैत वेदान्त कहता है कि इसी प्रकार संकल्प के बल पर ब्रह्म 'अघटन-घटना-पटीयसी' मायाशक्ति के द्वारा जीव को जगत् का भ्रम उत्पन्न कराता है। उस जादूगर-शिरोमणि ने मानों जादू फैला कर जीव को मोहित कर रक्खा है।

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः।
सर्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः॥ —श्वेताश्वतर, ३।१

जो एक मायावी सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर है, वह सब लोकों का शक्ति द्वारा शासन करता है।

भारतीय भूमा-वाद की यह एक दिशा है। इस मत से जगत् नहीं है, सृष्टि अलीक है—द्वैतमिव भवति; अन्य इव स्यात्—जगत् मानो है, सृष्टि मानो है। यह भानमात्र है—किन्तु परमार्थ सत्य तो वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। वही है, उसके सिवा और कोई कुछ नहीं है। वही भूमा है—वही ऊपर, वही नीचे, वही आगे, वही पीछे, वही उत्तर में, वही दक्षिण में और वही यह सब है—ब्रह्मैवेद सर्व्वम्।

नवम अध्याय

भूमा-वाद

२—अनुप्रवेश

हम बतला चुके हैं कि अद्वैत मत से सृष्टि अलीक है, जगत् नहीं है, केवल एकाकार 'एकमेवाद्वितीय' ही है, और कोई कुछ नहीं है। वह अद्वैत, नानात्वहीन भूमा है। किन्तु वैदान्तिक भूमावाद की इतनी ही बातें नहीं हैं। क्योंकि उपनिषद मे स्थान स्थान पर जगत् की व्यावहारिक सत्यता (phenomenal reality) स्वीकार की गई है। जगत् को इस प्रकार देखने से जगत् के साथ ब्रह्म का क्या सम्बन्ध स्थिर होता है और भूमा-वाद कौनसा आकार धारण करता है?

कहने की आवश्यकता नहीं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति, असत् से सत् की सृष्टि (creation ab nihilo,—out of nothing)—इसका अनुमोदन भारतीय दर्शनशास्त्र नहीं करता—

नासत् उत्पद्यते न सत् विनश्यति।

असत् उत्पन्न नहीं होता; सत् का विनाश नहीं होता।

नाभावात् भावोत्पत्तिः।

अभाव से भाव कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसी लिए इस मत से सृष्टि का अर्थ creation नहीं है—emergence है—अव्यक्त की व्यक्त अवस्था, अव्याकृत की व्याकृत अवस्था,—जो विलीन (latent) था उसका आविर्भाव, उसका प्रकट (patent) होना। इस मत से सृष्टि अनादि है, जगत् का न तो आदि

है और न अन्त। प्रलय में सारा विश्व ब्रह्म में लीन हो जाता है, एकीभूत हो जाता है,—फिर सृष्टि के समय विश्व ब्रह्म से आविर्भूत व्याकृत होता है। पर्याय-क्रम से सृष्टि होने के बाद प्रलय हो जाता है और प्रलय हो चुकने पर फिर सृष्टि होती है। इसी से उपनिषद् ने कहा है—

अक्षर तमसि लीयते तम परे देवे एकीभवति।

अक्षर तमस् में लीन होता है। तमस् परमात्मा में एकीभूत होता है।

यही आशय ईश-उपनिषद् का है—

तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति।—ईश, ४।

मातरिश्वा (प्राण) उस (ब्रह्म) में अप् रखता है।

अप् = कारणार्णव = अव्यक्त प्रकृति—"अप एव ससर्जादौ"—मनु। मातरिश्वा = प्राण = पुरुष।

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण का वचन है—

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥—विष्णु० ६।४।२८

व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही परमात्मा में लीन होते हैं। प्रलय के समय प्रकृति और पुरुष ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, इससे ब्रह्म का एक सार्थक नाम नारायण है। नार का अयन (आश्रय) = नारायण। नार का अर्थ है कारणार्णव (अव्यक्त प्रकृति)—और नार का अर्थ है नर (पुरुष) का समूह। प्रलय के समय पर ब्रह्म ही प्रकृति और पुरुष दोनों का निधान रहता है। उस समय पुरुष और प्रकृति दोनों ही ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। उस अवस्था में एक एकाकार ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्था को लक्ष्य करके श्रुति ने कहा है—

सदेव सोम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।

हे सोम्य! आदि में यह सभी सत्, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म था।

अन्य स्थान में भी कहा है—

आत्मा वा इदमग्र आसीत् ।—ऐत०

पहले यह सभी परमात्मा ही था ।

फिर प्रलय का अन्त होने पर ब्रह्म को सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई ।

स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय ।

मैं एकमेवाद्वितीय हूँ; मैं बहुत होऊँगा; मैं सृष्टि करूँगा ।

तब उसी में लीन (latent) विश्व फिर व्यक्त (patent) हुआ, उसमें तिरोहित जगत् फिर आविर्भूत हुआ—उसने सृष्टि की ।

स तपः तप्त्वा इदं सर्व्वम् असृजत यदिदं किञ्च—तैत्ति० २ । ६

उसने तप करके यह सारी सृष्टि उत्पन्न की—यह सब जो कुछ है ।

जगत् को उत्पन्न करके ब्रह्म ने क्या किया ?

तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्—तैत्ति० २ । ६

जगत् को उत्पन्न करके ब्रह्म उसी में समा (अनुप्रवेश कर) गया । इसी अनुप्रवेश-तत्त्व की हमें आलोचना करनी है । क्योंकि भारतीय भूमा-वाद का यह एक प्रधान अंश है ।

सोऽमन्यत एतासां प्रतिबोधनाय अभ्यन्तरं विविशामि । स वायुरिव आत्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत् ।—मैत्री, २ । ६

उसने सोचा कि इनके बोधन (जगाने) के लिए प्रवेश करूँ । उसने मानो वायुरूप होकर अभ्यन्तर में प्रवेश किया ।

इसी भाव को लक्ष्य करके गीता में भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्व्वम् जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।

अव्यक्त मूर्त्ति द्वारा मैं इस सारे जगत् में व्याप्त हो रहा हूँ । इसी लिए विश्व के बीच कोई जड़ पदार्थ (dead matter) नहीं है । सभी पदार्थ उसके जीवन से उज्जीवित हैं, उसके प्राणों से अनुप्राणित हैं, उसकी द्युति से द्युतिमय हैं और उसकी भाति से चिन्मय हैं । विश्व

के प्रत्येक अणु परमाणु में वह अनुस्यूत है। स्थावर जङ्गम, चर अचर, इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें वह अनुप्रविष्ट नहीं है।*

न तदस्ति विना यत् स्यात् मया भूतं चराचरम्।—गीता।

जगत् में ब्रह्म ने प्रवेश किया। जगत् ने उसे ढक लिया, वह मानों जगत् के भीतर छिप रहा।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।—श्वेत, १।३

महेश्वर की शक्ति स्वगुण से निगूढ हो गई।

स एव इह प्रविष्ट। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्यात् विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति।—बृ० १।४।७

उसने जगत् में प्रवेश किया। वह नखाग्र पर्यन्त अनुप्रविष्ट हो गया—जिस प्रकार उस्तरा अपने घर में बैठ जाता है, जिस प्रकार आग अरणि में छिपी रहती है। उसको कोई देख नहीं पाया।

वह मानों संसार में गुम हो गया। पानी में जिस तरह नमक की डली घुल कर मिल जाती है, उसी तरह वह खो गया—वह ढूँढने पर भी नहीं मिला।

इस भाव को लक्ष्य करके श्वेताश्वतर ने कहा है—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।

—६।१०

मकडी जिस प्रकार जाले को तानकर उसमें अपने तईं घेर लेती है उसी प्रकार उसने प्राकृतिक जगत्-जाल में अपने आप को आवृत कर लिया।

---

* अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु उद्भिद् और धातव पदार्थों में प्राणों के स्पन्दन का अनुभव करके जड और जीव की एकता प्रमाणित कर रहे हैं। वे प्राण और कुछ नहीं, विश्व में अनुप्रविष्ट इसी ब्रह्म का प्राणन है।

पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे Immanence कहते हैं। ब्रह्म क्या सिर्फ जगत् में ही Immanent है—अनुप्रविष्ट है? क्या वह निरा विश्वानुग है?

पाश्चात्य दार्शनिक जिसे Pantheism कहते हैं उसकी शिक्षा ऐसी ही है। उस मत से ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके जगत् में ही निःशेष हो जाता है। दूध जिस प्रकार दही के रूप में विकृत हो जाता है, मेघ जिस प्रकार वृष्टि के रूप में पर्य्यवसित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत हो रहा है। दही बन जाने पर जिस प्रकार दूध नहीं रह जाता, पानी बरस जाने पर जिस प्रकार फिर मेघ नहीं रह जाता, वैसे ही जगत् हो जाने पर फिर ब्रह्म नहीं रह गया। वह जगत् में निःशेषित हो गया।

भारतीय भूमा-वाद इस मत का समर्थन नहीं करता। भारतीय भूमा-वाद की शिक्षा यह है—

विष्टभ्याहं इदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्।

—गीता, १०। ४०

भगवान् एकांशमात्र द्वारा सारे जगत् को व्याप्त किये हुए हैं।

इस का मतलब यह है कि ब्रह्म के जगत् में अनुप्रवेश कर जाने पर भी प्रपञ्च की ससीमता में उसकी असीमता नहीं डूबती, क्योंकि ब्रह्मज्योति का भग्नांश ही विश्व के सृष्टि-स्थिति-संहार कार्य के लिए पर्याप्त होता है। अर्थात् ब्रह्म विश्वानुग होकर भी विश्वातिग रहता है। इसी लिए ऋग्वेद के ऋषि ने हजारों वर्ष पहले पुरुषसूक्त में कहा था—

स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।

सारी भूमि का आवरण करने पर भी ईश्वर दस अङ्गुल अधिक रहा।

एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

इसकी इतनी महिमा है। किन्तु पुरुष (परमेश्वर) इससे भी बड़ा है। उसकी एक चौथाई मे सारा विश्व है—और तीन अंश विश्वातिग, अमृत है। *

नारायण उपनिषद् में भी यही भाव है—

> यच्च किञ्चित् जगत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
> अन्तर्बहिश्च तत् सर्व्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥
>
> —१३ अनुवाक्

जगत् मे जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सब के भीतर और बाहर भी नारायण व्याप्त हैं।

यही शिक्षा मैत्री उपनिषद् मे भी है—

> इत्यसौ श्र त्मा अन्तर्बहिश्च अन्तर्बहिश्च।—५। २

वह परमात्मा जगत् के भीतर भी है और बाहर भी।

इसी सुर में सुर मिलाकर ईश उपनिषद् ने कहा है—

> तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य बाह्यतः।

वह जगत् के भीतर भी है और जगत् के बाहर भी है।

गीता की भी यही शिक्षा है—

> बहिरन्तश्च भूतानाम्।—१३। १५

भूतो (प्राणियो) के भीतर भी ब्रह्म है और बाहर भी है।

इसी लिए तैत्तिरीय उपनिषद् ने जगत् मे ब्रह्म के अनुप्रवेश का वर्णन करके साथ ही साथ कहा है—

---

* But He will not be merged in His work For vast as that work seems to us, to Him it is but a little thing That marvellous individuality is not lost and only a portion thereof suffices for the life of a Kosmos—Annie Besant

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तद् अनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्। निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च। निलयनञ्च अनिलयनञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च।—२। ६

ब्रह्म ने जगत् की सृष्टि करके उसके भीतर अनुप्रवेश किया। जगत् मे अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्म सत् भी हुआ और त्यत् भी—निरुक्त हुआ और अनिरुक्त—निलयन हुआ और अनिलयन—विज्ञान हुआ और अविज्ञान—सत्य हुआ और अनृत।*

इसी बात की प्रतिध्वनि करके मैत्री उपनिषद् ने कहा है—

त्रिष्वेकपात् चरेद् ब्रह्म त्रिपात् चरति चोत्तरे।
सत्यानृतोपभोगार्थो द्वैतीभावो महात्मन.॥—७। ११

त्रिलोकी मे ब्रह्म का एक चरणमात्र है, उत्तर मे उसके तीन चरण हैं। सत्य और अनृत का आस्वादन करने के लिए ही उस महात्मा का द्वैतभाव हुआ है।

इन श्रुतियों का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म जगत् मे अनुप्रविष्ट होकर विश्वानुग होते हुए भी साथ ही साथ विश्वातिग बना रहा। पाश्चात्य Pantheism की अपेक्षा भारतीय भूमा-वाद मे यह एक विशेषता है। भारतीय भूमा-वाद एक ओर जिस प्रकार ब्रह्म को विश्वातिग भगवान् (Extra-cosmic Deity) मात्र कहने को अनिच्छुक है, उसी प्रकार ब्रह्म को केवल विश्वानुग—विश्व के मध्य मे नि.शेषित

---

* अध्यापक डासन ने उक्त श्रुति का अनुवाद इस तरह किया है—Brahman in creating the universe enters into it as Being expressible, self dependent, consciousness, reality, while it in harmony with its own nature persists as the Opposite—inexpressible, independent, unconsciousness, unreality—P, 83

(Immanent) कहने में भी अनिच्छुक है। अतएव भारतीय भूमा-वाद पाश्चात्य Deism और Pantheism इन दोनों मतवादों से स्वतन्त्र है। Deism का जो सत्यांश है और Pantheism का जो सारांश है, इन दोनों के अपूर्व समन्वय के ऊपर ही भारतीय भूमा-वाद प्रतिष्ठित है।

हम अगले अध्याय में इस भूमा-वाद की अन्यान्य बातों को समझाने की चेष्टा करेंगे।

दशम अध्याय

भूमावाद

३—शक्ति-प्रस्रवण

जगत् में किसी ओर भी हम क्यों न देखे, वहीं हम शक्ति के उत्स को उत्सारित देखते हैं। आकाश में महाज्योतिष्क मण्डल बडे वेग से घूम रहा है, चन्द्र, सूर्य, ग्रह और तारा कोई भी स्थिर नहीं हैं—सब अनन्त काल से प्रचण्ड गति से दौड़ रहे हैं। नीचे से अनन्त समुद्र लहरें उठाकर अनन्त काल से पृथिवी के ऊपर झपट रहा है। जीव, जन्तु, कीट, पतङ्ग, लता, पेड़-पौधे—कोई स्थिर नहीं हैं, सभी चञ्चल हैं, गतिशील हैं। इस विविध विचित्र विशाल शक्ति का प्रस्रवण कहाँ पर है? कहाँ से यह शक्ति प्रसूत होकर विश्व भर में क्रीड़ा कर रही है?

पहले पहल शक्ति का विविध वैचित्र्य देखकर हम उद्भ्रान्त होते हैं, समझते हैं कि शक्ति के अनन्त भेद हैं। किन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि से विश्व भर में शक्तिपुञ्ज का विश्लेषण कर देने से हम जान सकते हैं कि भौतिक शक्ति में कितनी ही विचित्रता क्यों न हो, वह छः विभागों के ही अन्तर्गत है—गति, उत्ताप, आलोक, तड़ित्, चौम्बक और रसायनशक्ति। विज्ञान की भाषा में इस शक्तिषट्क का नाम है—Motion, Heat, Light, Electricity, Magnetism, और Chemism। विश्व में चाहे जहाँ, चाहे जिस रूप में, कितने ही प्रकार की भौतिक शक्ति (Force, Energy या Power) क्यों न रहे, वह इन्हीं छः भेदों में से एक न एक के अन्तर्गत रहेगी ही। इसके अतिरिक्त विश्व मे दो शक्तियाँ और हैं। वे भौतिक शक्तियों (Physical

Force) से विभिन्न हैं। ये हैं जीवनी शक्ति या प्राण (Vital Force) और क्षेत्रज्ञ-शक्ति या जीव (Psychic Force) अतएव वैज्ञानिक प्रणाली से विश्व के शक्तिपुञ्ज का विश्लेषण करने से शक्ति के ये आठ भेद देख पड़ते हैं"।

वैज्ञानिक लोग विभ्रान्त होकर शक्ति-राज्य में बहुत दिनों से विचर रहे थे, क्योंकि उनकी समझ थी कि यह आठ प्रकार की शक्तियाँ परस्पर भिन्न हैं, मौलिक स्वतन्त्र वस्तु हैं। उन्हें मालूम न था कि ये आठों भेद एक महाशक्ति के ही भावान्तर हैं। पीछे से सर विलियम ग्रोव ने अनेक प्रकार की वैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा प्रतिपन्न किया कि उक्त षड्विध भौतिक शक्तियाँ परस्पर रूपान्तरित की जा सकती हैं—अर्थात् तड़ित् से ताप, आलोक, चौम्बक शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, फिर ताप और आलोक प्रभृति को तड़ित् में रूपान्तरित किया जा सकता है। उन्होंने इस प्रक्रिया का नाम रक्खा—शक्ति का समावर्त्तन (correlation of physical forces)* हेलमहोट्स (Helmhots) और मायर (Myer) ने इस तत्त्व को और भी विशद किया। अन्त में प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेंसर ने इस तत्त्व का प्रसार करके प्रतिपन्न किया कि न केवल भौतिक शक्ति ही, बल्कि जीवन शक्ति और क्षेत्रज्ञ शक्ति भी उक्त समावर्त्तन विधि के अन्तर्भुक्त हैं। सभी जातियों की शक्ति अन्य जाति की शक्ति में रूपान्तरित हो सकती है। वास्तव में शक्ति का न तो ह्रास होता है और न उसमें वृद्धि होती है, न उसकी उत्पत्ति है और न विनाश, न उसका अपचय है और न उपचय है, केवल आविर्भाव और तिरोभाव है, केवल भावान्तर, रूपान्तर या प्रकारान्तर है। विज्ञान की भाषा में इस तत्त्व को (Conservation of Energy)

---

* The principle that anyone of the various forms of physical force may be converted into one or more of the other forms

कहते हैं। हरबर्ट स्पेंसर का कहना है कि एक अज्ञेय, अमेय, अचिन्त्य 'पावर' (Power) मौजूद है, जो कि रूपान्तरित होती है, भावान्तरित होती है; किन्तु न तो कभी वह विनष्ट होती है और न कभी उसका ह्रास होता है।

अर्थात् जिस प्रकार सारे राग और रागिनियाँ सात स्वरों का फैलाव मात्र हैं, जिस प्रकार अनन्त पदवाक्य पचास अक्षरों का समन्वय मात्र है, उसी प्रकार विश्व का सारा शक्तिपुञ्ज विविध वैचित्र्यमय होने पर भी पहले तो उन्हीं अष्ट मौलिक शक्तियों के अन्तर्भूत है और फिर वे आठ मौलिक शक्तियाँ भी एक महाशक्ति के ही रूपान्तर या भावान्तर मात्र हैं।

यह महाशक्ति जड़ नहीं, चिन्मय है। जगत् कुछ अन्ध जड़शक्ति का खिलवाड़ नहीं है, यह तो चिन्मय का लीलाविलास है। पाश्चात्य दार्शनिकों को अब इस तत्त्व का पता लग गया है। इस लिए उन्होंने कहना आरम्भ कर दिया है कि जड़-जगत् में हम जिस शक्ति की क्रीडा देखते हैं वह चेतनशक्ति का ही भावान्तर है। इस लिए उनमें से कोई कोई अब इस शक्ति को 'फोर्स' न कहकर 'पावर' कहना चाहता है। *

---

* The power which manifests itself in consciousness is but a differently conditioned form of the power which manifests itself beyond consciousnees —Herbert Spencer's Ecclesiastical Institutions P, 838.

The power which manifests throughout the Universe distinguished as material is the same power which in ourselves wells up under the form of consciousness —Ibid P. 829.

वास्तव में सारे विश्व में एक उसी अद्वितीय महाशक्ति का उत्स छूट रहा है—क्या जड़ और क्या जीव, क्या स्थावर और क्या जङ्गम, सभी जगह यही शक्ति प्रस्रवण लगातार धाराओं से हो रहा है। तो वह महाशक्ति क्या है? वह हमारा चिरपरिचित भूमा ही तो है—वह भारतीय ऋषियों की साधन-सम्पदा ब्रह्म ही तो है। इसी से उसका नाम ईशान, सर्व्वेश्वर, महेश्वर है।

तम् ईशानं वरदं देवमीड्यम्।—श्वेत, ४। ११

एष सर्व्वेश्वर एष सर्व्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी।—माण्डूक्य, ६

यह सब का ईश्वर, सर्व्वज्ञ अन्तर्यामी है। सारे लोक उसके वश में है।

वशी सर्व्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।—श्वेत, ३। १८

स्थावर जङ्गम सभी लोक उसके वश में हैं।

य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः।—श्वेत, ४। १३

इन द्विपद और चतुष्पद सभी जीवों का वह प्रभु है।

य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय।—श्वेत, ६। १७

जो सदा से इस जगत् का प्रभुत्व करता है, जिसके सिवा ईशन का दूसरा हेतु नहीं है।

वह सर्व्वशक्तिमान् है—सारी शक्ति, सारे सामर्थ्य का प्रस्रवण है। इस लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का कहना है—

य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः सर्व्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः—३।१

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमान् लोकान् ईशत ईशनीभिः—३।२

वह एक जालवान्, समस्त लोक को शक्ति के द्वारा शासित करता है। एक रुद्र है—उसका दूसरा नहीं है। वह इस समस्त लोक को शक्ति के द्वारा चालित करता है। इसी लिए कहा गया है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।—श्वेत, ६।८

उसकी परा शक्ति विविध सुनी जाती है। ज्ञानशक्ति, बल (इच्छा) शक्ति और क्रियाशक्ति उसकी स्वाभाविक है। अर्थात् उसकी शक्ति से सब शक्तिमान् हैं, उसकी द्युति से सब द्युतिमान् हैं, उसकी ज्योति से सब ज्योतिष्मान् हैं। इसी से गीता में भगवान् ने कहा है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥—१५। १२

आदित्य, चन्द्र और अग्नि में जो तेज प्रकाश रूप में दीप्ति पाता है वह मेरा ही तेज है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्व्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥—१५।१३

पृथिवी से माध्याकर्षण रूप मे जो शक्ति अभिव्यक्त होती है और रसात्मक सोमरूप से जिस शक्ति के द्वारा ओषधियाँ पुष्ट होती हैं वह शक्ति भी मेरी ही है।

न केवल भौतिक शक्ति ही, बल्कि प्राणशक्ति का उत्स भी वही है और क्षेत्रज्ञ शक्ति उसी की है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥—१५। १४

वैश्वानर रूप से प्राणियों की देह मे रहकर, प्राण और अपान के साथ, मैं ही चतुर्विध अन्न पचाता हूँ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।—१५। ७

जीवलोक में जो सनातन जीव (क्षेत्रज्ञ) है वह मेरा ही अंश है, क्योंकि मैं ही क्षेत्रज्ञ रूप से सब क्षेत्रों मे विराजमान हूँ।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्व्वक्षेत्रेषु भारत।—१३। २

गीता ने अन्य स्थान पर इस तत्त्व का विस्तार करके कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

रसोहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः।
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
पुण्यो गन्ध. पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्व्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
बीजं मां सर्व्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥—७। ७-१०

हे धनञ्जय! मुझसे बढ कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सारा जगत्, धागे मे मणियों की भाँति, मुझमें ही गुँथा हुआ है।

हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, मैं चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, मैं सम्पूर्ण वेदों मे ओंकार हूँ, आकाश मे शब्द और पुरुषों मे पुरुषत्व मैं ही हूँ।

पृथिवी मे पवित्र गन्ध और अग्नि मे तेज मैं हूँ, मैं सम्पूर्ण भूतों में (उनका) जीवन हूँ अर्थात् जिससे वे जीते हैं वह मैं हूँ और तपस्वियो मे तप मैं हूँ।

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण मुझी को समझ। मैं बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।

इसी तत्त्व को फैला कर गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने विभूतियोग की अवतारणा की है। उसका साराश यह है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ॥—१०।४१

जो भी वस्तु विभूतियुक्त, श्रीयुक्त अथवा ओजोयुक्त है, उसे मेरे ही तेज का प्रकाश समझो।

अर्थात् जगत् मे जहां कहीं शक्ति, महिमा और ऐश्वर्य का प्रकाश है, सब भगवान् का ही प्रभाव समझना चाहिए। इस तत्त्व को विशद करने के लिए भगवान् ने, जिस गण मे जो श्रेष्ठ है, वही अपने को बताया है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

—गीता, १० । २१—२४

अर्थात् मैं आदित्यों में विष्णु हूँ, ज्योतिर्गण में दिवाकर हूँ, मरुद्गण में मरीचि हूँ, नक्षत्रों मे चन्द्रमा हूँ, वेदों मे सामवेद हूँ, देवगण मे इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन और भूतगण में चेतना हूँ। मैं रुद्रों में शङ्कर हूँ, यक्ष रक्षोगण मे कुवेर हूँ, वसुओं मे अग्नि हूँ, पर्वतों में मेरु हूँ, पुरोहितों में बृहस्पति हूँ, सेनानियों मे स्कन्द (कार्त्तिकेय) और जलाशयों मे समुद्र हूँ, इत्यादि।

महाकवि शेक्सपियर ने एक स्थान पर कहा है There is providence in a sparrow's fall—अर्थात् तितली के गिरने में भी परमात्मा का प्रकाश है। यह बात बहुत ही ठीक है, क्योंकि उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर की ईशना के बिना विश्व का पत्ता भी नहीं हिल सकता, फूल तक नहीं खिलता, चिड़िया तक नहीं उड़ती। महाभारत के एक आख्यान मे यह बात बड़े अच्छे ढंग से प्रदर्शित की गई है कि वही समस्त बल का उत्स और सारी शक्ति का प्रस्रवण है। प्रभास क्षेत्र के महाश्मशान में, आपसी झगड़ा होने पर, जब यदुकुल का नाश हो गया तब भगवान् श्रीकृष्ण ने जरा व्याध के गुप्त बाण को निमित्त बनाकर नरलीला समेट ली। हस्तिनापुर में इस खबर के पहुँचने पर गाण्डीवधारी महावीर अर्जुन, यदुकुल की कामिनियों को लाने के लिए,

प्रभास को रवाना हुए। वहाँ पर उन्होंने ऐसे शोक का दृश्य देखा जिसका वर्णन नहीं हो सकता। अर्जुन ने किसी प्रकार धैर्य धारण करके अपने मित्र का अन्तिम सस्कार किया और यदुकुल की स्त्रियों को साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर चले। रास्ते में भिल्ल डाकुओं ने आक्रमण करके अर्जुन को परास्त और विपर्यस्त कर डाला। गाण्डीव लिये हुए उदास अर्जुन, किसी तरह हस्तिनापुर में पहुँचकर युधिष्ठिर से कहने लगे—

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृत तेजो देवविस्मापनं महत्॥

—भागवत, १।१५।५

महाराज! मित्ररूपी श्रीहरि मुझे ठग करके चले गये। साथ ही साथ देवताओ को भी विस्मित करनेवाला मेरा महत् तेज तिरोहित हो गया है।

तद्वै धनुस्त इषव स रथो हयास्ते,
सोऽहं रथी नृपतयो यत आमनन्ति।
सर्व्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं,
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्त मुष्याम्॥

—भाग० १।१५।२१

वही मेरा लोकविश्रुत धनुष है, वही बाण हैं, वही रथ है, वही घोड़े हैं और वही रथी मैं हूँ, किन्तु आज ईश्वर से रहित हो जाने के कारण यह सब भस्म मे दी हुई आहुति की तरह, ऊसर में बोये गये बीज की भाँति, निष्फल हो गया है।

वास्तव में यही बात है। ईश्वर से रहित हो जाने पर सभी निर्बल हैं—क्योंकि वही एक मात्र शक्ति का प्रस्रवण है। सासारिक घटनाएँ उसी की शक्ति का लीला-विलास हैं। उसी के शासन से हवा चलती है, सूर्य उगता है, आग जलती है और सृष्टि का सारा

कारोबार है। उसी की शक्ति को सिर पर धारण करके देवता लोग अपने अपने अधिकार पर नियुक्त रहते हैं, विश्व की मर्यादा ज्यों की त्यों बनी रहती है और जगत् सत्य मार्ग पर परिचालित होता है। इसी लिए याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक उपनिषद् में उसका परिचय देते हुए कहते हैं—

स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्यूह्यात्यक्रामत्,
तं त्वा उपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।—३।६।२६

उस उपनिषत् प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में प्रश्न करता हूँ जिसने सब देवों का, सब पुरुषों का निरोध करके, प्रणोद करके उनको अतिक्रम किया है।

इस तत्व को विशद करके याजवल्क्य अन्यत्र कहते हैं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतो तिष्ठत, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राणि अर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति, एतस्य वा अक्षरस्य गार्गि प्रशासने प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिग्मनु, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतः मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्व्वी पितरोऽन्वायत्ता.—३।८।६

हे गार्गि ! इसी के प्रशासन में चन्द्र और सूर्य विधृत बने हुए हैं, इस अक्षर पुरुष के प्रशासन में ही स्वर्ग और मर्त्य विधृत बने हुए हैं; इस अक्षर पुरुष के प्रशासन मे ही निमेष मुहूर्त्त अहोरात्र अर्द्धमास मास ऋतु और संवत्सर विधृत बने हुए हैं, हे गार्गि ! इस अक्षर पुरुष के शासन में ही पूर्व दिशा की ओर बहनेवाली नदियाँ सफेद पर्वत से प्रवाहित हो रही हैं, पश्चिम दिशा की ओर बहनेवाली नदिया दूसरी ओर बह रही हैं। इस अक्षर पुरुष के प्रशासन में मनुष्य, देव और पितर दान, यज्ञ, श्राद्ध की प्रशसा करते हैं।

इस तत्त्व को बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में फैलाया गया है। ईश्वर में अन्तर्यामित्त्व का उपदेश करके ऋषि ने कहा है—

य॰ पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यत् पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो॰ यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याप॰ शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत॰ ।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत॰ ॥

यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायु शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत॰ ।

यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौ शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत ॥ इत्यादि ।

अर्थात् जो पृथिवी में रहकर पृथिवी का अन्तर है, पृथिवी जिसे नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी को अन्तर मे यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

जो जल में रहकर जल का अन्तर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो जल को अन्तर में यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

जो आग मे रहकर आग का अन्तर है, जिसे आग नहीं जानती और आग ही जिसका शरीर है, जो आग को अन्तर में यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

जो अन्तरिक्ष में रहकर अन्तरिक्ष का अन्तर है, अन्तरिक्ष जिसे नहीं जानता और अन्तरिक्ष ही जिसका शरीर है, जो अन्तरिक्ष को अन्तर में यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

जो वायु में रहकर उसका अन्तर है, वायु जिसे नहीं जानता लेकिन वायु ही जिसका शरीर है और जो वायु को अन्तर में यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

जो दिव में रहकर दिव का अन्तर है, जिसे दिव नहीं जानता लेकिन दिव जिसका शरीर है और जो दिव को अन्तर में यमन करता है—वही तुम्हारा आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।

अर्थात् सारी प्राकृतिक, दैविक और देहिक घटनाओं के पीछे अन्तर्यामी रूप से ईश्वर विद्यमान है। उसी की शक्ति से उनमें शक्ति है, उसी के प्राणन से वे क्रियावान् हैं, उसी के सयमन से वे कार्यशील हैं, सारी शक्ति का प्रस्रवण वही है। इस तत्त्व को विशद करने के लिए केन उपनिषद् में एक प्राचीन आख्यान की अवतारणा की गई है।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्त अस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा।—३।१

किसी समय ब्रह्म ने देवताओं को जयी कर दिया था। ब्रह्म की दिलाई हुई जय में देवताओं ने लाग-डाँट से सोचा कि यह विजय हमारी है, यह महिमा हमारी है।

उनके इस भ्रम को दूर करने के लिए ब्रह्म, अद्भुत मूर्ति धारण करके, उनके आगे आविर्भूत हुआ।

तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति।

देवता लोग उसे पहचान नहीं पाये। वे कहने लगे 'यह क्या अद्भुत पदार्थ है।' उन लोगों ने अग्नि से कहा 'जातवेदा! मालूम तो कर आओ, यह कौन यक्ष है।' उसके समीप पहुँचने पर अग्नि से

उसने कहा, 'कोऽसि'—'तू कौन है ?' अग्नि ने उत्तर दिया, 'हमें नहीं जानते ! हम हैं अग्नि, हम हैं जातवेदा !' ब्रह्म ने पूछा—

तस्मिन् त्वयि किं वीर्य्यम् ?

'तो तुम में क्या वीर्य्य—क्या शक्ति है ?' अग्नि ने कहा—

अपीदं सर्व्वं दहेयं यदिदं पृथिव्याम् ।

'पृथिवी में जो कुछ है उसे मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ ।'

ब्रह्म ने कहा—'अच्छी बात है ! जरा इस घास-फूस को तो जलाओ ।'

तद् उपप्रेयाय सर्व्वजवेन तन्न शशाकादातुम् । स तत एव निववृते नैतत् अशकं विज्ञातुं यदेतत् यक्षमिति ।—केन, ३ । १०

अग्नि ने पूरा जोर लगा कर उस घास-फूस को जलाने की कोशिश की, किन्तु वह जला न सका । उसने लौटकर देवताओं से कहा, यह कैसा अद्भुत यक्ष है ! मैं नहीं जान सका ।

अब देवताओं ने वायु को भेजा—

वायो एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति ।

वायु ! तुम पता लगा लाओ कि यह कौन अद्भुत यक्ष है । वायु का भी वही हाल हुआ जो अग्नि का हुआ था । ब्रह्म ने उससे पूछा, 'तुम कौन हो ?' वायु ने कहा—

वायुर्वा अहमस्मि, मातरिश्वा वा अहमस्मि ।

मैं वायु हूँ, मैं मातरिश्वा हूँ, मैं सारे जगत् को आदान कर सकता हूँ ।

अपीदं सर्व्वमाददीयं यदिदं पृथिव्याम् ।

ब्रह्म ने कहा—अच्छी बात है ! इस तिनके को तो उठाओ । वायु ने सब तरह से पूरा जोर लगाकर चेष्टा की, किन्तु वह उसको हिला भी न सका । वायु विफल-प्रयत्न होकर देवताओं के पास लौट गया । अब देवताओं ने इन्द्र को भेजा । इन्द्र को आते देखकर ब्रह्म

अन्तर्धान हो गया। तब इन्द्र ने उसी आकाश में बहुत ही शोभायमान एक स्त्री-मूर्त्ति देखी। यह थी ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा हैमवती।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम् तां होवाच किमेतद् यक्षमिति।—केन, ३। १२

इन्द्र ने उससे पूछा, यह अद्भुत यक्ष कौन है? उमा ने कहा, और कौन है! जिसकी शक्ति से तुम लोग शक्तिशाली हो, जिसकी विजय से तुम लोग विजयी हुए थे, वही ब्रह्म है। तब देवताओं का भ्रम दूर हुआ।

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद् विजयेऽमहीयध्वमिति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।—केन, ४।१

अर्थात् सारे आधिभौतिक और आधिदैविक कार्य ईश्वर की शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। न केवल आधिभौतिक आधिदैविक कार्यों के, बल्कि आध्यात्मिक कार्यों के भी पीछे वही है। प्रश्न उपनिषद् में प्राण के उपाख्यान से हमें यह तत्त्व मालूम होता है। कहा गया है कि एक बार प्राण और इन्द्रियों के बीच झगड़ा हुआ था। उनमें झगड़ा इस बुनियाद पर हुआ कि 'हम लोगो में कौन वरिष्ठ है, श्रेष्ठ है।' इन्द्रियाँ कहने लगीं कि—

ते प्रकाश्य अभिवदन्ति वयम् एतद्बाणम् अवष्टभ्य विधारयामः।

प्रश्न २।२

इस शरीर को हमीं धारण करती हैं।

प्राण ने कहा, यह बात नहीं है, हम पञ्च प्राण रूप से अपने को विभक्त करके इस देह की रक्षा कर रहे हैं।

ते अश्रद्दधाना बभूवुः।

इन्द्रियों को इस बात पर श्रद्धा न हुई। तब प्राण ने अप्रसन्न होकर देह को छोडने की तैयारी की। प्राण के निकलने से देह का विनाश होते देख इन्द्रियाँ शान्त हो गईं और प्राण की स्तुति करने लगीं—

एकादश अध्याय

भूमावाद

४—विश्वरूप

पिछले अध्यायो मे यह आलोचना की गई है कि भूमावाद की विशेषता क्या है और पाश्चात्य Pantheism सर्व्वेश्वरवाद से इस मतवाद का प्रभेद कहाँ पर है। इन सारी बातो की भी आलोचना की जा चुकी है कि ब्रह्म जगत् में अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक अणु-परमाणु में ओत-प्रोत भाव से विराजमान है, और वह विश्वातिग, प्रपञ्चातीत भाव से विद्यमान है, वही सारी शक्तियों का प्रस्रवण है, समस्त सामर्थ्य का मूलस्वरूप है। इस अध्याय में विश्वरूप भाव से भारतीय भूमा-वाद की कुछ आलोचना की जायगी।

ब्रह्म को, विश्वरूप भाव में देखकर, ऋषियों ने "विराट् पुरुष" की (Mammoth Man) आख्या दी है। इस नाम की क्या सार्थकता है?

पाश्चात्य साहित्य में कहीं कहीं पर जगत् को ईश्वर का आच्छादन (Vesture of God) कहा गया है। एक सूफी योगी ने विश्व को विश्वेश्वर का 'दस्ताना' कहा है। ये सारी बातें भारतीय उपनिषद की शिक्षा के अनुरूप हैं। क्योंकि उपनिषद् का कहना है—ब्रह्म जगत् की रचना करके उसके भीतर अनुप्रविष्ट हो गया।

तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्—तैत्ति० २। ६

ब्रह्म ने जगत् में प्रवेश किया, जगत् ने उसे ढक लिया, वह मानों जगत् के भीतर छिप रहा।

इसी बात को और फैलाकर उपनिषद् कहता है—

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः, दक्षिणादिक् दक्षिणे प्राणाः, प्रतीची दिक् प्रत्यञ्च' प्राणाः। उदीची दिक् उदञ्चः प्राणाः, ऊर्ध्वा दिक् ऊर्ध्वाः प्राणाः, अवाची दिक् अवाञ्च' प्राणाः सर्व्वादिक् सर्व्वे प्राणाः।

—बृह० ४।२।४

पूर्व ओर उसके पूर्व प्राण हैं, दक्षिण ओर उसके दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम ओर उसके पश्चिम प्राण हैं, उत्तर ओर उसके उत्तर प्राण हैं, ऊपर ओर उसके ऊर्ध्व प्राण हैं, नीचे की ओर उसके अधः प्राण हैं और सब ओर उसके सकल प्राण हैं।

अर्थात् सारी दिशाएँ, समस्त देश (Space) उसके विराट् रूप के अवयव हैं। क्योंकि—

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरत. स एवेद सर्व्वम्।—छा० ७।२५।१

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दाहनी ओर और वही उत्तर ओर है—यह सब वही है।

इसी का विस्तार करके मुण्डक उपनिषद् ने कहा है—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायु' प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व्वभूतान्तरात्मा॥

—मुण्डक, २।१।४

द्युलोक इसका मस्तक है, सूर्य-चन्द्र इसकी आँखे हैं, दिशाएँ इसके कान हैं, वेद इसकी वाणी है, वायु इसके प्राण हैं, विश्व इसका हृदय है और पृथिवी इसके चरण हैं; यह सब भूतों का अन्तरात्मा है। यही वैदिक विश्वरूप का अन्त है।

इस बात का विस्तार करके भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कहा गया है—

आप आदि देव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत् के परम आश्रय, जाननेवाले, जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्त रूप! आप से यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है। आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। आपको बारम्बार नमस्कार है। हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिए आगे से और पीछे से भी नमस्कार है। हे सर्वात्मन्! आपके लिए सब ओर से ही नमस्कार हैं। अनन्त पराक्रमशाली आप सारे ससार को व्याप्त किये हुए हैं। इससे आप ही सर्वरूप हैं।

इस समस्त वर्णन का सार यह है कि ब्रह्माण्ड मे जितनी व्यष्टि-मूर्त्तियाँ हैं, जितने व्यक्तिगत रूप हैं वे स्वतन्त्र या पृथक् नहीं हैं, किन्तु उनमें एक भीतरी योग (लगाव) है, एक अन्तरङ्ग सम्बन्ध है और उन सारी व्यष्टि मूर्त्तियो तथा रूपो का जो विशाल समवाय और समष्टि है वही ईश्वर की विशाल देह है तथा वह देहाभिमानी ईश्वर ही हमारा आलोच्य विराट् पुरुष है। स्थावर, जङ्गम, खनिज, उद्भिज, स्वेदज, जरायुज, पेड़-पौधे-लता-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट पतङ्ग, देव-दानव-मानव, जहाँ पर जो कोई है—सब की व्यष्टि-मूर्त्ति की अन्तरङ्ग योगसिद्ध जो विराट् समष्टि है, वही भगवान् का विश्वरूप है।

इस दृष्टि से देखने पर सब का मुँह उसी का मुँह है, सब का सिर उसी का सिर है, सब की आँखे उसी की आँखें हैं और सब के कान उसी के कान हैं। इसी लिए उपनिषद् ने कहा है—

सर्व्वाननशिरोग्रीवः सर्व्वभूतगुहाशयः।
सर्व्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्व्वगतः शिवः॥ श्वेत, ३।११

सब का मुँह उसका मुँह, सब का सिर उसका सिर; और सब का गला उसका गला है। वह सब के हृदय में स्थित है। वह भगवान् सर्व्वव्यापी है। वह शिव सर्व्वगत है।

सर्व्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥—श्वेताश्वतर ३।१६

उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर आँखें और कान हैं, सब ओर सिर और मुँह हैं, वह सब में व्याप्त हो रहा है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

श्वेताश्वतर ३।३

उसके सब ओर आँखे और सब ओर मुँह हैं, उसके सब तरफ बाहु और सब तरफ पैर हैं, उस द्युतिमय देवता ने पृथिवी और अन्तरिक्ष को उत्पन्न करके मनुष्य को बाहुयुक्त और पक्षी को पक्षयुक्त बनाया है।

ऊपर हमने कई बार व्यष्टि और समष्टि शब्द का प्रयोग किया है। हमें यह समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि यह व्यष्टि और समष्टि है क्या वस्तु। व्यष्टि और समष्टि का भेद समझाने के लिए प्राचीन लोग साधारणतया वन और जलाशय का दृष्टान्त दिया करते थे। वे कहते थे कि वृक्ष की समष्टि वन है, अतएव वृक्ष व्यष्टि है और वन समष्टि। इसी प्रकार जल की समष्टि जलाशय है, अतएव जल व्यष्टि है और जलाशय समष्टि। इस उपमा से बात बिलकुल साफ नहीं होती, क्योंकि वृक्ष से स्वतन्त्र वन का और जल से स्वतन्त्र जलाशय का तो रत्ती भर भी अस्तित्व नहीं है। किन्तु जीव-विज्ञान की सहायता से हमें एक योग्यतर उपमा का पता लगा है। वह है कोषाणु की उपमा। इसके द्वारा समझ में आ जाता है कि समष्टि कोई काल्पनिक पदार्थ नहीं है, वह व्यष्टि की राशि मात्र है। समष्टि का स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व है।

सभी जानते हैं कि बहुत से कोषाणुओं के मिलने से पशु अथवा मनुष्य की देह बनी है अर्थात् व्यष्टि कोषाणु की समष्टि ही स्थूल शरीर है। प्रत्येक कोषाणु का स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व है, किन्तु

कोषाणु-समष्टि देह का जो अस्तित्व है वह कोषाणु से स्वतन्त्र और स्वाधीन है। प्रत्येक कोषाणु जीव-देह की भूमि मे अपने क्षुद्र जीवन को स्वाधीन रूप से बिता रहा है, उसका जन्म मृत्यु-क्षय-वृद्धि कोषाणु-समष्टि देह की जन्म मृत्यु-क्षय-वृद्धि से स्वतन्त्र है। किन्तु कोषाणु परस्पर सम्बन्ध हीन नहीं हैं, उनके बीच एक आन्तरिक सयोग है, एक आन्तरिक सम्बन्ध है। इसी से देखा जाता है कि प्रत्येक कोषाणु अपने लिए जो आहार जुटाता है वह कोषाणु-समष्टि देह की सेवा में अर्पित होता है और उसके द्वारा देह का पोषण तथा सरक्षण होता है। *

ईश्वर की विराट् देह के सम्बन्ध मे भी व्यष्टि-समष्टि का यही हाल है। ब्रह्माण्ड मे जितनी व्यष्टि मूर्तियाँ हैं, जितनी व्यक्तिगत देहें हैं—फिर वे देहें चाहे स्थावर हों चाहे जङ्गम वह मूर्ति खनिज की हो चाहे स्वेदज की, उद्भिज की हो चाहे जरायुज की, पेड-पौदा हो चाहे तरु-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, और देव-दानव-मानव—वे किसी की हों, वास्तव मे वे स्वतंन्त्र और स्वाधीन नहीं हैं—उनके बीच मे परस्पर

---

* The cells composing an organism are regarded as individual units each with a distinct life and function of its own * * *

Every cell of the great colony of cells composing the organism of every animal and plant has thus its special work to perform the work consisting in the extraction from its immediate environment of those materials which are necessary for its own growth and nutrition But this work is entirely subservient to and indeed is solely performed for the ultimate nutrition and building up of the whole organism of which each individual cell forms a very small but yet neccessary unit.

एक आन्तरिक योग है, एक अन्तरङ्ग सम्बन्ध है और उस समस्त व्यष्टि मूर्त्ति की जो योग-सिद्ध विराट् समष्टि है वही ईश्वर की विराट् मूर्त्ति है।

एक और ध्यान देने की बात यह है कि जिस कोषाणु-समष्टि से प्राणी की देह गठित होती है वे बहुत ही सूक्ष्म सूत्र के आकार में जीवपङ्क (Protoplasm) द्वारा प्रत्येक के साथ सयुक्त रहते हैं।* इस प्रकार ईश्वर 'सूत्रात्मा' रूप से ब्रह्माण्डस्थ समस्त मूर्त्तियों को सयुक्त किये हुए है, क्योंकि सूक्ष्म रूप से अव्यक्त मूर्ति मे वह सारे जगत् में व्याप्त है—

मया ततमिदं सर्व्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

अतएव ब्रह्माण्डस्थ प्रत्येक मूर्ति उसकी विराट् देह का अवयव मात्र है, ब्रह्माण्डस्थ प्रत्येक रूप उस विश्वरूप का कोषाणु मात्र है। और ये सारी मूर्त्तियाँ असयुक्त स्वतन्त्र पृथक् नही हैं, सूत्रात्मा द्वारा वे परस्पर एक योग से गुँथी हुई हैं—अन्तरङ्ग सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं।

अब तक हमने एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता ईश्वर की चर्चा की, किन्तु ब्रह्म महेश्वर है, ईश्वर का भी ईश्वर है।

तवम् ईश्वराणा परमं महेश्वरम्।—श्वेत, ६। ७

जीव के साथ ईश्वर का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध ईश्वर के साथ महेश्वर का है। ईश्वर एक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता है, महेश्वर

---

* But the very important discovery made within the last few years, that all the living cells of every even vegetable organism are intimately united by means of very minute threads of protoplasm (the vehicle of life) passing through the cell walls * * The cells of a plant are no longer discrete and separated by a dead unorganised cell-wall but united by the basic substance of life—Theosophical Review Vol, 25 p 191.

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का अधिनायक है। व्यष्टि-ब्रह्माण्ड के साथ ईश्वर का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध समष्टि ब्रह्माण्ड के साथ महेश्वर का है। जिस तरह जीव-समष्टि से ईश्वर की विराट् देह बनी है उसी तरह ईश्वर-समष्टि से महेश्वर का विश्वरूप निर्मित है। जिस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में जीव कोषाणु-स्थानीय हैं उसी प्रकार महेश्वर के सम्बन्ध में ईश्वर कोषाणु-स्थानीय है। ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में परमाणु का जो स्थान है वही स्थान ब्रह्माण्ड-समष्टि महाविश्व (यानी महेश्वर के लीलाक्षेत्र) के सम्बन्ध मे ब्रह्माण्ड का है। क्योंकि महेश्वर-रूप असीम समुद्र मे ईश्वरगण—तमाम ब्रह्मा—बुद्बुदस्थानीय हैं।† इसी लिए भक्त कवि विद्यापति ने गाया है—

कत चतुरानन मरि मरि जावत न तुवा आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुन तोहे समायत, सागर-लहरी समाना॥

---

† महेश्वर और ईश्वर के भेद को सुस्पष्ट करने के लिए ऋषियो ने स्थान स्थान पर महेश्वर को 'ब्रह्म' और ईश्वर को 'ब्रह्मा' कहा है। ब्रह्म ब्रह्मा का जनक है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वम्।—श्वेत, ६। १८
ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव।—मुण्डक, १। १

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात॰ पतिरेक आसीत्।—ऋग्वेद। अर्थात् पहले हिरण्यगर्भ वर्तमान था। वह भूतगण का 'जात'पति अर्थात् जन्य ईश्वर है। महेश्वर नित्य ईश्वर है, वह 'ब्रह्मयोनि' (ब्रह्मा का जनक) है और ब्रह्मा जन्य ईश्वर (जात॰ पतिः) है। इसी से श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है—जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्येश्वरस्य।
—४। ४। १७ सूत्र का भाष्य।

'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व्वम्—श्वेत, ३। ४
ब्रह्म ने आरम्भ में हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया।

समुद्र के वक्ष पर अनन्त लहरियाँ उठ रही हैं, हँस रही हैं और फिर विलीन हो रही हैं। ब्रह्म-समुद्र में भी इसी तरह असंख्य ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, कल्प कल्प में लीला करते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्माण्ड एक नहीं है, बहुत से हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड का अलग ईश्वर है।

सूर्य को केन्द्र बनाकर जो ग्रह-उपग्रह चक्कर लगा रहे हैं उनका, सूर्य समेत, नाम सौरमण्डल है। अँगरेजी मे इसे Solar System कहते हैं। हिन्दूशास्त्र में सौरमण्डल का नाम ब्रह्माण्ड है। सूर्यमण्डल की परिधि का आकार अण्ड की भाँति (Oval form) है, इसी से उसका नाम ब्रह्माण्ड है। ऋषियों के मत से असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। यह मत पाश्चात्य विज्ञान के विरुद्ध नहीं है।

मेघ-विहीन अँधेरी रात में, आकाश में, जो अगणित तारे चमकते दीखते हैं उनके सम्बन्ध मे ज्योतिर्विदों का निश्चय है कि उन तारों में से प्रत्येक एक-एक सूर्य है। उन नक्षत्र-सूर्यों मे से कई एक का परिमाण तो हमारे सूर्य की अपेक्षा सैकड़ों-हजारों गुना बड़ा है। वे नक्षत्र-सूर्य न जाने कितने बड़े बड़े हैं।

हमारे सूर्य को केन्द्र मानकर जिस प्रकार कुछ ग्रह उपग्रह घूम रहे हैं, उसी प्रकार कौन जाने, तारा-सूर्य के अधीन कितने करोड़ ग्रह-उपग्रह आकाश में विचर रहे हैं।

सम्भवतः प्रत्येक नक्षत्र-सूर्य ही एक-एक सौर-मण्डल का केन्द्रस्थल है। अतएव विश्व जगत् में सौर-मण्डलों की संख्या अगणित है।

इसी से योगवाशिष्ठ में कहा है—

यथा तरङ्गा जलधौ यथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥
एकस्यानेकसंख्यस्य कस्याणोरम्बुधेरिव।
अन्तर्ब्रह्माण्डलक्षाणि लीयन्ते बुद्बुदा इव॥

जिस प्रकार समुद्र में तरङ्गें हैं उसी प्रकार परमेश्वर में बहुत सी सृष्टियाँ हैं जो हवा में धूल के कणों की तरह आविर्भूत होकर तिरोहित होती हैं। कोई एक ऐसा 'अणु' है, जिसमें समुद्र में बुलबुलों की तरह लाखों ब्रह्माण्ड विलीन हो रहे हैं।

संख्या चेत् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन ।—देवी-भागवत, ६।३।७

धूलि के कण चाहे गिन लिये जायँ, किन्तु ब्रह्माण्डों की गिनती नहीं हो सकती।

लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः—भागवत, ३।११।४१

विश्व में करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़ते हैं।

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

उस आदिपुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ जिसने करोड़ों ब्रह्माण्डों की रचना की है। अतएव ब्रह्माण्ड के बहुत्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य विज्ञान और प्राच्य प्रज्ञान एकमत है।

ऋषियों की यह शिक्षा है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता स्वतन्त्र ईश्वर है। * वह त्रिमूर्ति ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मक है। वह ब्रह्मारूप से सृष्टि करता है, विष्णुरूप से पालन करता है और शिवरूप से संहार करता है।

भक्तचित्तसमासीनो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।—सूतसंहिता।

---

* सूर्य सौरमण्डल का केन्द्र है। इसी लिए ब्रह्माण्ड-पति ईश्वर को ऋषियों ने आदित्यस्थ पुरुष (योऽसौ आदित्ये पुरुषः) कहा है। किसी किसी ने उसे सूर्यनारायण कहा है—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।

य एष अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते—छान्दोग्य, १।३।६

आदित्य के बीच जो हिरण्मय पुरुष देख पड़ता है।

वह ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक है, वह भक्त के चित्त मे समासीन है।

ये तीनों एक हैं, एक ही तीन हैं—त्रित्व मे एकत्व का और एकत्व में त्रित्व का प्रतिपादन करके विष्णुपुराण ने कहा है—

नमो विश्वसृजे तुभ्यं विश्वं तद्नु विभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे नमस्तुभ्यं त्रिमूर्त्तये॥

तुम त्रिमूर्ति हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम विश्व को उत्पन्न करते हो, उसका पालन करते हो और उसका सहार करते हो। तुमको नमस्कार करता हूँ।

ब्रह्माण्ड जब असंख्य हैं तब उनके अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी असख्य हैं। इस सम्बन्ध में देवी भागवत में इस प्रकार लिखा है—

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिबिम्बेषु सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥—९।३।७—९

धूलि के कणों की तो चाहे गिनती कर ली जाय, किन्तु ब्रह्माण्डों की गिनती कभी नहीं की जा सकती। प्रत्येक ब्रह्माण्ड मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव विराजमान हैं। उनकी सख्या गणना से परे है।

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवा॰॥

कहा जा चुका है कि ब्रह्माण्ड करोडों, अयुतों हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अधिष्ठित हैं।

इन समस्त ब्रह्मा, विष्णु और शिवों का जो अधीश्वर है अर्थात् जो अखिल ब्रह्माण्डपति है उसी को ऋषियों ने महेश्वर कहा है।

ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।

× × ×

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः ॥

हे ब्रह्मन् ! ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान प्रधान शक्तियाँ हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवों के ऊपर है वही महेश्वर है।

इस सम्बन्ध में लिङ्गपुराण का यह वचन है—

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः ।
हरयश्च असंख्याता एक एव महेश्वरः ॥

असंख्य रुद्र, असंख्य ब्रह्मा और असंख्य विष्णु हैं, किन्तु महेश्वर एक और अद्वितीय है।

'त्रिपाद्विभूति' उपनिषद् में भी यही भाव है,—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्तत स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। × × × एकैकब्रह्म-विष्णुशिवाधिष्ठितानि × × एकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघ-मत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवत् भ्रमन्ति।

हमारे ब्रह्माण्ड के चारों ओर, इसी ब्रह्माण्ड के समान, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड [illegible] के आवरण से आवृत होकर चलते रहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अलग अलग ब्रह्मा, [illegible] और [illegible] हैं। [illegible] में जिस प्रकार अनन्त [illegible] रहते हैं उसी प्रकार शिव के महाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड तिरते रहते हैं।

इसी लिए श्रुतियों ने महेश्वर को अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का अधिपति कहा है। एक एक ईश्वर एक एक ब्रह्माण्ड का स्वामी है। जो सब ईश्वरों का ईश्वर महेश्वर है वह निखिल ब्रह्माण्ड का स्वामी है।

यदि ब्रह्माण्ड एक नहीं, अनन्त हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड यदि अपने अपने [illegible] ईश्वर का विराट् शरीर है, तब अनन्त ब्रह्माण्डों के अधिपति महेश्वर का [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] हम लोग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से वे ब्रह्माण्ड भी [illegible] हैं। इसी लिए [illegible] [illegible]

कहा गया है कि झरोखे में होकर जिस प्रकार परमाणु भीतर पहुँचते हैं और बाहर निकलते हैं उसी प्रकार महेश्वर के विश्वव्यापी शरीर के रोम-कूपों में अगणित ब्रह्माण्ड घुसते और बाहर निकलते हैं।

क्वाहगूविधा अगणिता· परमाणुचर्य्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्।

अतएव कहा जा सकता है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की जो अन्तरङ्ग योगसिद्ध सुविशाल समष्टि है वही महेश्वर का विश्वरूप है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महेश्वर ही पर-तत्त्व है, उसके बाद और कुछ भी नहीं है, वही परात्पर परम पदार्थ है।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्।—श्वेत, ३।६

यही बात कठ उपनिषद् ने कही है—

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥—कठ, १।३।११

महत् के बाद अव्यक्त है, अव्यक्त के बाद पुरुष है। पुरुष के बाद और कुछ भी नहीं है। वही पराकाष्ठा है और वही परमगति है।

गीता का भी यही कहना है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।—७।७

यही एक मात्र महेश्वर है। यह न केवल एक है, बल्कि अद्वितीय है। यही भूमा है।

द्वादश अध्याय

मूर्त्त और अमूर्त्त

तो ब्रह्म मूर्त्त है या अमूर्त्त ? ईश्वर साकार है या निराकार ?

इस प्रश्न पर एक प्राचीन विवाद चला आ रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर निराकार चैतन्य स्वरूप है, दूसरे लोग कहते हैं कि स्वरूपत. वह द्विभुज, मुरलीधारी, अप्राकृत रूपवान् है—ब्रह्मज्योति इसकी 'तनु भा' या अङ्गों की कान्ति है। इस विवाद के घने जङ्गल मे प्रवेश करना दुःसाहस का काम है। और यदि अभिमन्यु की भाँति दुःसाहस करके इस चक्रव्यूह के भीतर किसी प्रकार प्रवेश कर भी लिया जाय तो बाहर निकलने का रास्ता मिलेगा किस तरह ? जान पडता है कि यह सब सोच-समझकर ही एक भावुक कवि ने ईश्वर को साकार या निराकार न कहकर उसे नीराकार कहा है। नीर (जल) का अपना कोई आकार नहीं है—पात्र-भेद से, आधार की भिन्नता से जल का आकार निरूपित होता है। भगवान् का भी यही हाल है। इस का मतलब यह है कि ईश्वर निराकार है सही किन्तु वह भक्त वान्छा-कल्पतरु है। भक्त पर अनुग्रह करने के लिए वह समय समय पर आकार ग्रहण करे तो इसमें कौन सी विचित्रता है ? वह तो सर्वशक्तिमान् है, जगत् में जितनी भी मूर्त्तियाँ हैं वे उसी की सकल्प-शक्ति से बनी हुई हैं। मूर्ति का उपादान (प्रकृति) उसी के अधीन है। तब फिर इच्छा करके वह साकार रूप मे प्रकाशित क्यों न हो सकेगा ? अतएव क्या यह कहना असङ्गत है कि भगवान् अरूप होकर भी सरूप है और निराकार होकर भी साकार है ?

इस मत-विवाद के स्थान पर वेदान्त का क्या सिद्धान्त है ?

वेदान्त की आलोचना करने से हमको मालूम होता है कि आर्य ऋषियों ने ब्रह्म के दो विभावों का परिचय दिया है—एक निर्विशेष भाव का और दूसरे सविशेष भाव का। इन दोनों विभावों का भेद दिखलाने के लिए उन्होंने निर्विशेष विभाव को परब्रह्म या अशब्द ब्रह्म और सविशेष विभाव को अपरब्रह्म या शब्दब्रह्म कहा है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे।—बृहदारण्यक, २।३।१

ब्रह्म के दो रूप हैं।

एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म।—प्रश्न, ५।२

हे सत्यकाम ! यह ब्रह्म पर और अपर है।

द्वे परब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च।—मैत्री, ६।२२

दो प्रकार के परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए—शब्द का और अशब्द का।

हम यह भी बतला चुके हैं कि ब्रह्म के निर्विशेष भाव का अर्थ यह है कि उस भाव के किसी विशेषण, लक्षण, चिह्न या परिचय का निर्देश नहीं किया जा सकता। किसी गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता, जिसके द्वारा उसकी धारणा की जाय, किसी उपाधि की भी अवतारणा नहीं की जा सकती जिसके द्वारा उसकी पहचान हो सके। इसी से निर्विशेष भाव को निर्गुण, निर्विकल्प, निरुपाधि आदि संज्ञा दी गई है। यह भाव मन-बुद्धि के लिए अगोचर, अनिर्देश्य, अनिरुक्त, अवाच्य, अज्ञेय और अमेय है।

यतो वाचो निवर्तन्ते।—तैत्तिरीय, २।४।१

एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते। तैत्तिरीय, २।७

वह विदित और अविदित सब पदार्थों से भिन्न है—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।—केन, १।३

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥—केन, २।२।३

जो (ब्रह्म को) नहीं जानता, वही जानता है, जो जानता है वही नहीं जानता। जो जानता है उसके लिए ब्रह्म अज्ञात है, और जो नहीं जानता उसी को ज्ञात है।

हम कह चुके हैं कि जो ऐसा अद्भुत है उसके सम्बन्ध में परिचय के स्थान पर इतना ही कहा जाता है कि 'वह यह नहीं है,' 'वह यह नहीं है।'-

अथात आदेशो नेति नेति।—बृहदारण्यक, २।३।६

इसी से योगवाशिष्ठ (उत्पत्ति प्रकरण) में कहा गया है—'देश काल, निमित्त जब उसी में है तब फिर द्वैत ही क्या है और अद्वैत ही क्या है? ब्रह्म न तो द्वैत है और न अद्वैत, न वह जात है और न अजात, न वह सत् है और न असत्, न वह क्षुब्ध है और न प्रशान्त ही।' अर्थात् उसमें सारे द्वन्द्वों का चिरसमन्वय है, सारे द्वैत का बिलकुल अवसान है।

इसी से परब्रह्म में सारे विरुद्ध लक्षणों का, सारे विपरीत धर्मों का, आरोप किया जाता है। 'वह आकाश है भी और नहीं भी, वह कुछ है और नहीं भी। उसकी गति नहीं है और वह गतिशील भी है। उसकी स्थिति नहीं है और वह स्थितिमान है। वह चित् भी है और जड़ भी, वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं। वह अणु भी है और महान् भी, वह अँधेरा भी है और उजेला भी, वह निमेष भी है और कल्प भी, वह सत् भी है और असत् भी, वह प्रत्यक्ष भी है और अप्रत्यक्ष भी; वह बहुत दूर है और समीप भी। (योगवाशिष्ठ)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह निर्विशेष, निरुपाधि, निरञ्जन परब्रह्म कभी मूर्त्त नहीं हो सकता—इसके प्रति किसी आकार का आरोप नहीं हो सकता।

हम बतला चुके हैं कि यह निर्विशेष परब्रह्म ही माया-उपाधि को अङ्गीकार करके मानों अपने आप को सङ्कुचित करता है। उस समय उसका जो विभाव होता है वही सविशेष या सविकल्प भाव है। उस समय उसे महेश्वर कहा जाता है।

मायिनन्तु महेश्वरम्।

इस सविशेष भाव को लक्ष्य करके भागवत में कहा गया है—

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमोहितम्।

गृहीतमायोरुगुण सर्गादावगुणः स्वत.॥—भागवत, २।६।२६

यह जगत् भगवान् नारायण मे निहित है, वह स्वभावत. निर्गुण है, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में माया-उपाधि अङ्गीकार करके सगुण हो जाता।है।

इस सगुण ब्रह्म या महेश्वर का स्वरूप क्या है? हम देख चुके हैं कि वह स्वरूपत· सच्चिदानन्द है।

ईश्वर. परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।—ब्रह्मसंहिता, ५।१

परम ईश्वर श्रीभगवान् सच्चिदानन्द विग्रह हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।—तैत्ति, २।१।१

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।—बृह० ३।६।२८

इस सविशेष अवस्था मे, उसमे तीन शक्तियो का प्रकाश होता है। इन तीनों शक्तियों का नाम क्रम से सन्धिनी, ह्लादिनी और सवित् है।

'ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्वसंस्थितौ।—विष्णुपुराण।

ह्लादिनी, सन्धिनी और सवित् ये तीनों शक्तियाँ विश्वाधार अद्वितीय भगवान् मे अवस्थित हैं। सन्धिनी शक्ति के योग से महेश्वर सत्, सवित् शक्ति के योग से चित् और ह्लादिनी शक्ति के योग से आनन्द स्वरूप होता है। सन्धिनी शक्ति की क्रिया सत्ता अथवा सत्य, सवित् शक्ति की क्रिया ज्ञान और ह्लादिनी शक्ति की क्रिया आनन्द है।

हमने देख लिया है कि ये महेश्वर ही सृष्टि-स्थिति और लय के करनेवाले हैं।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।—तैत्ति० ३।१

जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते-जागते हैं और अन्त समय में जिसमे विलीन हो जायँगे वही ब्रह्म है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में इस श्रुति का अनुसरण करके कहा गया है—

जन्माद्यस्य यतः—१।१।२

इसी लिए उसका छद्मनाम "तज्जलान्" है।

सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति,—छान्दोग्य, ३।१४।१

"तज्जलान्" का अर्थ है तज्ज, तल्ल, तदन—उससे जगत उत्पन्न है, उसमें जगत् अवस्थित है, उसमें जगत् लीन होता है।

सृष्टि, स्थिति और संहार—महेश्वर के इन तीन सांसारिक कार्यों को स्वतन्त्र रूप से लक्ष्य करके उनका नाम रक्खा गया है ब्रह्मा, विष्णु और शिव। रजोगुण-प्रधान सृष्टिकार्य को लक्ष्य करके वह ब्रह्मा हैं, सत्त्वगुण-प्रधान पालनकार्य को लक्ष्य करके वह विष्णु हैं, और तमोगुण प्रधान लयकार्य को लक्ष्य करके वह शिव हैं। इन्हीं को त्रिमूर्ति कहते हैं। ये तीनों स्वतन्त्र नहीं हैं—इन तीनों में एक है और एक में ही तीन हैं।

आत्ममाया समाश्रित्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन्, रक्षन्, हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥

—भाग० ४।७।५८

अर्थात् महेश्वर अपनी त्रिगुणमयी माया का आश्रय करके इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं, और इन तीनों क्रियाओं

की उचित सज्ञा अथवा नाम धारण करते हैं। इसी से महेश्वर के स्तोत्र मे कहा गया है—

भक्तचित्तसमासीनः ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः—सूतसंहिता, ३।४८

वे भक्त के चित्त में अधिष्ठित हैं, वही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक हैं। कालिदास ने इस भाव की प्रतिध्वनि करके बड़े अच्छे ढंग से कहा है—

नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागेन पश्चाद् भेदमुपेयुषे॥

सृष्टि के पहले तुम केवल, अद्वितीय थे। फिर गुण-त्रय के उपाधि-भेद से तुम ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप से त्रिमूर्ति मे भिन्नरूप हो। तुम को नमस्कार है।

हमारी प्रथम विवेचना का विषय यह है कि ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, सविशेष है या निर्विशेष? ब्रह्म का कौन सा भाव उपासना के लिए प्रशस्त है? गीता में अर्जुन ने यही प्रश्न किया था।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥—१२।१

जो लोग तद्गतचित्त से तुम्हारी (सगुण ब्रह्म या महेश्वर की) उपासना करते हैं और जो लोग अक्षर तथा अव्यक्त (निर्गुण) ब्रह्म की आराधना करते हैं, उनमें से श्रेष्ठ योगी कौन है?

इसके उत्तर मे भगवान् ने कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

—गीता, १२।२-५

जो लोग मुझमे मन लगाकर, बडी श्रद्धा के साथ, नित्य निविष्ट चित्त से मेरी उपासना करते हैं, मेरे मत से, वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। और जो लोग सर्वत्र समदृष्टि रखकर, सब भूतो के हित में रत रहकर, इन्द्रियसयमपूर्वक अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ, अचल, नित्य परब्रह्म की उपासना करते हैं उन्हे अधिकतर क्लेश सहना पड़ता है। क्योकि, देहधारी जीव बडी कठिनाई से अव्यक्ता गति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

अतएव देख पड़ता है कि गीता के मत से उपासना के लिए निर्विशेष की अपेक्षा सविशेष ब्रह्म अथवा महेश्वर ही प्रशस्त है।

अब प्रश्न होता है कि जो हमारा उपास्य है—जो महेश्वर है—सविशेष, सोपाधि, सगुण है—वह मूर्त्त है या अमूर्त्त—साकार है या निराकार ?

महेश्वर के दोनों ही भावों—अमूर्त्त और मूर्त्त—का वेदान्त मे उपदेश है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्त्तञ्च—बृह० २।३।१

ब्रह्म (महेश्वर) के दो रूप हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त।

विष्णुपुराण मे भी यही बात कही गई है—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावत ।
भूप ! मूर्त्तममूर्त्तञ्च परञ्चापरमेव च ॥

हे राजन् ! उपासक के चित्त का आश्रय जो ब्रह्म (महेश्वर) है उसके स्वभावतः दो भाव हैं—पर या अमूर्त्त भाव और अपर या मूर्त्त भाव।

यह अमूर्त्त भाव ही महेश्वर का स्वरूप है—उसका सच्चिदानन्द भाव है।

अमूर्त्तं ब्रह्मणो रूप यत् सदित्युच्यते बुधैः।

—विष्णुपुराण ६। ७। ६९

ब्रह्म का जो अमूर्त्त रूप है उसी को पण्डित लोग सत् कहते हैं।

तो इस अमूर्त रूप की उपासना किम प्रकार की जावे? पहले तो प्रतीक प्रभृति उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि करनी चाहिए। इस प्रणाली से साधक का चित्त शुद्ध हो जाने पर वह 'अहग्रह' उपासना का अधिकारी होगा। तब वह जीव-ब्रह्म के अभेद का चिन्तन करेगा। "अह ब्रह्मास्मि", "सोऽहम्", "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य ऐसी ही उपासना का उपदेश करते हैं। इस अवस्था के साधक को चिन्तन करना चाहिए—

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः—तैत्ति, ३।१०

त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि देवते।

जो पुरुष में अधिष्ठित है वही आदित्य में अधिष्ठित है। हे भगवन् देवता! तुम हो मैं और मैं हूँ तुम। यह योग की अन्तिम अवस्था है। यह साधारण साधक की पहुँच से बाहर है।

महेश्वर के मूर्त्त रूप के दो भेद हैं—एक विश्वरूप, दूसरा साकार रूप। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे इस विराट् रूप का वर्णन है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।
पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

विराट् पुरुष के हजार सिर, हजार नेत्र और हजार चरण हैं, वह सारे जगत् में व्याप्त है और जगत् के बाहर भी है। भूत, भविष्यत्,

वर्तमान जो कुछ है सभी वह पुरुष है। मर्त्य और अमर्त्य सब का वह अधीश्वर है।

पिछले अध्यायों में हम विश्वरूप की आलोचना कर चुके हैं और उसी प्रसङ्ग में हमने गीता के ग्यारहवें अध्याय का उल्लेख किया है।

हमें ध्यान इस बात पर देना है कि अर्जुन के जैसा साधक भी उस विश्वरूप को सहन नहीं कर सका।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

यह विश्वरूप साधक के लिए दुर्निरीक्ष्य और उपासना के लिए अप्रशस्त होने से ही, शायद, निराकार भगवान ने साकार मूर्त्ति धारण की। निराकार भगवान का फिर आकार क्या है? इस सन्देह को दूर करने के लिए अद्वैतवादी दार्शनिक-शिरोमणि श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में लिखा है—

स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम् ।

—ब्रह्मसूत्र, १।१।२०

अर्थात् साधक पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर भी अपनी मर्जी से मायामय रूप धारण करता है। क्योंकि वह सगुण होकर भी अगुण है, सरूप होकर भी अरूप है, और निराकार होकर भी साकार है। इस विषय में विष्णुपुराण का वचन है—

अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः ।
बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः ॥

विष्णुपुराण, १।२२।७४

मायामय हरि रूपवर्जित होकर भी प्राणियों के हित के लिए अस्त्रभूषणयुक्त देह धारण किया करते हैं।

यतीनां मन्त्रिणाञ्चैव ज्ञानिनां योगिना तथा ।
ध्यानपूजानिमित्तं हि तनुं गृह्णाति मायया ॥

[सूतसंहिता १।२ श्लोक के माधवाचार्यकृत भाष्य में धृत 'सुप्रभेद का वचन ।]

यति, मन्त्री (मन्त्रवित्), ज्ञानी और योगी साधक के ध्यान और पूजा के लिए भगवान् मायाकृत देह अङ्गीकार करते हैं ।

जब यह बात हुई तब भगवान् किसी दिन साकार मूर्ति में प्रकाशित हुए थे या नहीं, यह अब दर्शनशास्त्र का विषय नहीं रह जाता, यह इतिहास की घटना हुई । युग युग में साधु, भक्त, साधकोत्तम, ध्यान-योग के द्वारा भगवान् की साकार मूर्ति के दर्शन करके अन्तरङ्ग-पुरुषों को उसका विवरण सुना गये हैं । वह समस्त विवरण परम्पराक्रम से मानव-समाज में चला आ रहा है । किसी ने उसे द्विभुज मुरलीधर रूप में देखा है, किसी ने उसे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायण रूप में देखा है और किसी ने कर्पूर-गौर भुजगोपवीत चन्द्रशेखर शिवरूप में उसके दर्शन किये हैं । किसी ने त्रिनयना, शूलधारिणी, सिंहवाहिनी, महाशक्ति के रूप में उसके दर्शन किये हैं । ध्रुव और प्रह्लाद ने ऐसी ही मूर्ति देखी थी । चैतन्यदेव ने ऐसी ही मूर्ति देखी थी । हमें यह सोचने का क्या अधिकार है कि उन लोगों की दृष्टि मिथ्यादृष्टि (Hallucination) थी, उनका किया हुआ वर्णन और विवरण क्या मिथ्या प्रलाप या कल्पना का विजृम्भण है ? नहीं । सच तो यह है कि वे ध्यानदृष्ट मूर्तियाँ, अगले समय के साधकों के हित के लिए, शास्त्रों में चिरस्थायी की गई हैं ।

तन्त्र का यह एक वाक्य सुना जाता है,—

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना ।

साधकों के हित के लिए ब्रह्म के रूप की कल्पना है—इसका यह मतलब नहीं है कि ब्रह्म का साकार रूप कल्पनामात्र है । क्योंकि हम आजकल जिस अर्थ में 'कल्पना' शब्द का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में,

प्राचीन ग्रन्थों में, अनेक स्थानो पर उक्त शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है। ऋग्वेद का वचन है—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व्वमकल्पयत ।

पहले जैसे थे वैसे ही सूर्य-चन्द्र की कल्पना विधाता ने की। क्या इसका यह अर्थ है कि चन्द्र-सूर्य काल्पनिक पदार्थ हैं—उनकी सत्ता वास्तव में नहीं है ? नहीं, ऐसा नहीं है। वेद का भाव यह है कि भगवान् की कल्पना (चिन्तन) ही जगत् रूप मे प्रकाशित होती है। ब्रह्म की जो रूप-कल्पना की बात कही है वह भी उसी ढॅग की है।

इसी प्रकार से विष्णुपुराण और भागवत मे विष्णुमूर्ति के ध्यान का उपदेश है, शिवपुराण, स्कन्द-पुराण प्रभृति शैवपुराणो मे शिवमूर्ति के ध्यान का उपदेश है। देवीभागवत प्रभृति शाक्तपुराणो मे शक्तिमूर्ति के ध्यान का उपदेश दिया गया है।

विष्णुपुराण में बहुत अच्छे ढॅग से इस प्रसग की आलोचना की गई है। उक्त पुराण का कहना है कि भगवान् का जो अमूर्त्त रूप या निराकार भाव है—जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं—उस भाव की धारणा चित्त मे सरलता से नहीं होती। इसी लिए भगवान् के मूर्तरूप या साकार मूर्ति की आवश्यकता है। विष्णुपुराण के खाण्डिका-जनक-सवाद में यह प्रसङ्ग, इस तरह, छेडा गया है—

तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप ।
तत्श्रूयतां अनाधारे धारणा नोपलभ्यते ॥
प्रसन्नचारुवदन पद्मपत्रोपमेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णं कपालफलकोज्ज्वलम् ॥
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ।
समकर्णान्तविन्यस्त चारुकर्णविभूषणम् ॥
वलित्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण वै ।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ।

समस्थितोरुजङ्घञ्च सुस्थिराङ्घ्रिकराम्बुजम् ।
चिन्तयेद् ब्रह्म मूर्तञ्च पीतनिर्म्मलवाससम् ॥
—६ । ७ । ७९–८२

निराधार से चित्त की धारणा करना सम्भव नहीं है । अतएव भगवान् के मूर्त्तरूप का जिस तरह चिन्तन करना चाहिए, वह कहते हैं—उनका प्रसन्न चारु वदन और पद्मपलाश लोचन हैं, उनके कपोल सुन्दर हैं और विशाल उज्ज्वल ललाट है । दोनों कान सुन्दर भूषणों से सज्जित हैं, विस्तीर्ण वक्षःस्थल श्रीवत्स से चिह्नित है और ग्रीवा कम्बु की तरह है । उनके उदर में त्रिवली है और निम्ननाभि है; वे अष्टभुज या चतुर्भुजधारी हैं । उनकी ऊरु और जङ्घाएँ गोल हैं, हाथ-पैर सुडौल हैं और निर्मल पीताम्बर पहने हुए हैं । ऐसे मूर्त ब्रह्म विष्णु का चिन्तन करे ।

भगवान् के दूसरे रूप, मूर्ति, का उल्लेख हमको शास्त्रों में मिलता है । वह है उनकी अवतार-मूर्ति । इस प्रसङ्ग में गीता का यह वचन है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे—गीता, ४।८

अर्थात् साधुओं की रक्षा, असाधुओं के विनाश और धर्म-संस्थापन के लिए भगवान् प्रत्येक युग में अवतार लेते हैं । जो लोग भगवान् के अवतार लेने को असम्भव समझते हैं उनके आगे इस वाक्य की कुछ प्रामाणिकता नहीं है—किन्तु जो लोग भगवान् के अवतार को मानते हैं उनके मन में प्रश्न उठेगा कि भगवान् किस प्रकार अवतार लेते हैं ? गीता ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥—४।६

इसके भाष्य मे श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—

य च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभि सदासम्पन्न त्रिगुणात्मिकां वैष्णवी स्वामाया प्रकृति वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते प्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया।

अर्थात् षडैश्वर्यशाली भगवान अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को अपने वश में करके अपनी माया द्वारा मानो देही होकर जन्म ग्रहण करते हैं। वे, जन्मरहित, अव्यय, सब लोकों के ईश्वर हैं। वे स्वभाव से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं। यद्यपि उनका कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता फिर भी वे जीवो पर अनुग्रह करने इस प्रकार अवतार धारण करते हैं।

गीता के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी ने इस प्रसग मे लिखा है—

ईश्वरोऽपि कर्मपारतन्त्र्यरहितोऽपि सन् स्वमायया सम्भवामि × × × स्वां शुद्धसत्त्वात्मिका प्रकृतिमधिष्ठाय स्वीकृत्य विशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्या स्वेच्छयावतरामि।

अर्थात् भगवान कर्मरहित हैं। वे कर्म के अधीन नहीं हैं; तथापि अपनी माया द्वारा उत्पन्न होते हैं। वे अपनी शुद्धसत्त्वात्मिका प्रकृति में स्थित होकर विशुद्ध ऊर्जित सत्त्वमूर्ति में स्वेच्छा से अवतार लेते हैं।

अतएव श्रीधर स्वामी के मत से अवतार-काल में भगवान मूर्ति धारण करते हैं अर्थात् साकार होते हैं। गीता के एक और टीकाकार *श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इस सम्बन्ध में कुछ सन्देह प्रकट किया है।* वे कहते हैं कि कोई कोई नित्य निरवयव निर्विकार परमानन्दमय भगवान के अवतार-काल में वास्तविक देह-सम्बन्ध समझते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। भगवान नित्य विशुद्ध सच्चिदानन्द घन निर्गुण परमात्मा हैं— उनकी, क्या तो भौतिक और क्या सात्विक कोई भी देह सम्भव नहीं है।

हाँ, अवतार-काल में उनकी जो देहित्व-प्रतीति होती है, वे मूर्तिधारी जान पड़ते हैं, सो यह निरी माया है।* अर्थात् सच्चिदानन्द की वह मूर्त्ति पारमार्थिक तो है ही नहीं, प्राकृतिक भी नहीं है, वह तो प्रातिभासिक है। किन्तु प्राकृतिक हो चाहे प्रातिभासिक, वास्तविक हो या मायामात्र, इसमें किसी को विरोध नहीं है कि भगवान् अवतार लेकर साकार रूप मे प्रतिभात होते हैं।

इस साकार निराकार-विवाद की एक और दिशा से मीमासा की जा सकती है। वेदान्तसूत्र मे महर्षि बादरायण ने वैसा ही किया है। वे कहते हैं कि भगवान् निराकार हैं सही, किन्तु वे चित्स्वरूप या चैतन्यमय हैं।

आह च तन्मात्रम्।—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१७

आह च श्रुतिः चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म। × × × नास्य आत्मन॰ अन्तर्बहिर्वा चैतन्याद् अन्यद् रूपमस्ति। चैतन्यमेव तु निरन्तर अस्य स्वरूपम्।—शङ्कर भाष्य।

अर्थात् ब्रह्म के परिचय स्थान मे श्रुति ने उसे निर्विशेष चैतन्य-मात्र कहकर ही परिचित कराया है। भीतर-बाहर निरन्तर चैतन्य के सिवा उसका और रूप नहीं है।

---

*केचित्तु नित्यस्य निरवयवस्य निर्विकारस्यापि परमानन्दस्यावयवावयविभावं वास्तवमेव इच्छन्ति ते "निर्युक्तिक ब्रुवाणस्तु नासाभिर्विनिवार्य्यते।" अन्ये तु परमेश्वरस्य देहदेहिभावं न मन्यन्ते। किन्तु यश्च नित्यो विभु॰ सच्चिदानन्दघनो भगवान्वासुदेव॰ परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा स एव, तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद्भौतिको मायिको वेति। × × × स्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सन् सम्भवामि देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद् व्यवहरामि। कथ तर्हि देहे सच्चिदानन्दघने देहत्वप्रतीतिरत आह—आत्ममाययेति निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपतो प्रतीतिः मायामात्रमित्यर्थ॰।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।—३।२।१४ सूत्र

उपनिषद् में स्थान स्थान पर ब्रह्म के मूर्त्त रूप का प्रसङ्ग है सही किन्तु श्रुति ने प्रधानतः ब्रह्म को अरूपवत् (निराकार, अमूर्त्त) कहकर ही प्रतिपन्न किया है। यथा—

अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम्—बृह० ३।८।८

अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम्—कठ, ३।१३

दिवो ह्यमूर्त्तः पुरुष —मुण्डक, २।१।२

ब्रह्म यदि निराकार चैतन्यघन है तो फिर वह जगत् का स्त्रष्टा होगा किस तरह ? जो निराकार है वह तो विकरण (इन्द्रिय वर्जित) है। वह विचित्र शक्तियुक्त अवश्य है।

सर्व्वोपेता च तद् दर्शन त्—२।१।३० सूत्र

श्रुति ने ब्रह्म को विचित्रशक्तियुक्त बतलाया है। किन्तु फिर भी जो विकरण है, जो निराकार है उसने किस प्रकार साकार जगत् को उत्पन्न किया ? इस आपत्ति के उत्तर मे बादरायण कहते हैं—

विकरणत्वान्नेतिचेत् तदुक्तम् ।—२।१।३१

ब्रह्म विकरण अथवा इन्द्रिय-विवर्जित है नहीं किन्तु उसमे समस्त इन्द्रियों का आभास नित्य वर्त्तमान है, इसी से श्रुति ने कहा है—

सर्व्वेन्द्रियगुणाभास सर्व्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

क्योंकि,

अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः ।

उसके हाथ तो हैं नहीं लेकिन ग्रहण करता है, पैर तो है नहीं लेकिन चलता-फिरता है, आँखें तो हैं नहीं लेकिन देखता है और कान न होने पर भी सुनता है। इसी से वह 'सर्व्वेन्द्रियगुणाभास' है। इसे

स्मरण रखना चाहिए कि हम जिसे इन्द्रियशक्ति कहते हैं—फिर वह शक्ति चाहे ज्ञानेन्द्रिय की हो चाहे कर्मेन्द्रिय की—जैसे, दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति, गमन-शक्ति, ग्रहणशक्ति—वह शक्ति आत्मनिष्ठ है। उसका साधारणतः कार्य इन्द्रियों द्वारा होता है। इस लिए आँखों के द्वारा हम देखते हैं, कानों के द्वारा हम सुनते हैं, हाथों के द्वारा हम ग्रहण करते हैं और पैरों के द्वारा हम चलते-फिरते हैं। वर्तमान अवस्था में यदि हम अन्धे हो जायँ अथवा बहरे हो जायँ या अपंग हो जाँय, यदि कोई हमारी आँखें निकाल ले, पैर काट डाले अथवा जीभ काट ले—तो हमारी दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति, ग्रहणशक्ति, गमनशक्ति और वाक्शक्ति इत्यादि स्तम्भित हो जायगी। किन्तु यदि इलाज करने से हमारा अन्धापन, बहरापन या पङ्गुत्व दूर हो जाय, यदि कोई किसी हिकमत से हमें नक़ली हाथ-पैर या जीभ लगा दे तो उन उन इन्द्रियों का कार्य फिर होने लगेगा। क्योंकि उस उस इन्द्रिय की शक्ति तो हमारी आत्मा में पहले से है ही, केवल उपाधि न रहने से वह स्तम्भित हो गई थी।

जीव ब्रह्मबिन्दु है—ब्रह्म का अंश है। वह ब्रह्मकण जीव जब संसारक्षेत्र में फेंका जाता है तब उसमें उक्त सारी इन्द्रियशक्तियाँ प्रसुप्त अवस्था में रहती हैं। प्रकृति के क्षेत्र में फेंके गये जीव को, अपने आप में अन्तर्निहित, उन शक्तियों के विकास की इच्छा होती है। जीव देखना चाहता है, सुनना चाहता है, ग्रहण करना चाहता है और जाने की इच्छा करता है। तब 'दर्शनाय चक्षु'—अर्थात् देखने के कार्य के लिए आँखें क्रमशः विकसित होती हैं, सुनने के लिए कान क्रमशः [illegible] होते हैं [illegible] क्रमशः विकसित होते हैं और चलने फिरने के लिए पैर क्रमशः विकसित होते हैं इत्यादि। इस प्रकार विकास और क्रमशः क्रम-युक्त होता है। वर्तमान में हम लोगों की यही दशा है। हम इन्द्रिययुक्त हैं, इन्द्रियों के द्वारा ही कार्य करते

हैं। किन्तु हमें यह कहने का क्या अधिकार है कि इन्द्रियों के बिना आत्मा किसी दिन अपनी शक्ति का व्यवहार नहीं कर सकेगा? बल्कि साधना की उच्च अवस्था में पहुँचने पर साधक में दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रुति और दिव्य गन्ध प्रभृति जिन विभूतियों का उदय होता है उस ओर ध्यान देने से यही समझना ठीक जान पड़ता है कि जीव की मुक्त अवस्था में जीव विकरण होकर भी करण शक्ति की परिचालना करता है। नित्यमुक्त भगवान् के सम्बन्ध में श्रुति ने ऐसा ही उपदेश दिया है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

इसी से बादरायण कहते हैं कि चूँकि भगवान विकरण हैं इस लिए वे सृष्टिकर्ता नहीं हो सकते, यह असङ्गत बात है, क्योंकि वे सर्व्वेन्द्रिय-विवर्जित होकर भी 'सर्व्वेन्द्रियगुणाभासयुक्त' हैं।

यदि यह निश्चित है तो फिर साकार और निराकार का विवाद ही नहीं रह जाता। क्योंकि भगवान् चाहे साकार हों चाहे निराकार, वे तो

आँखों बिना देख सकते हैं, पैरों बिना चलें सर्वत्र,
और बिना हाथों के करते ग्रहण वस्तुएँ परम पवित्र,
कानों बिना सुनें सब ध्वनियाँ इन्द्रिय-गुण के वे आधार;
सृष्टि स्थिति संहार सभी के वे कारण हैं अपरम्पार।

वेद और वेदान्त*

पाश्चात्य पण्डित लोग वेद से मतलब वेद के संहिताभाग से ही लेते हैं किन्तु हम लोग इस देश में वेद कहने से संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वेद के इन चारों भागों को समझते हैं।

पाश्चात्यों ने और उनके मतानुवर्ती प्राच्यों ने सिद्धान्त बनाया है कि जब वेद का संहिता या मन्त्रभाग बनाया गया तब ऋषि-समाज में दार्शनिक और आध्यात्मिक भाव प्रस्फुटित नहीं हुआ था, तदनुसार ही पूर्वोक्त लोगों ने वैदिक साहित्य का युग-भेद किया है। हमारी राय में यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। हमारा विश्वास है कि वैदिक युग के प्रारम्भ से ही इस देश में अध्यात्म विद्या का प्रचलन था। अतएव हम वेद और वेदान्त के पौर्वापर्य को नहीं मानते। हां, यदि प्रश्नकर्ता का वेदान्त से मतलब वेदान्त-दर्शन या ब्रह्मसूत्र हो और वेद का अर्थ उन्होंने वेद के संहिता भाग को समझ रक्खा हो तो अवश्य ही वेदान्त वेद से बहुत पीछे का है।

१—वेद के साथ वेदान्त का क्या सम्बन्ध है? वेद में ब्रह्मज्ञान का जो अङ्कुर देख पड़ता है उसका पूरा पूरा विकास वेदान्त में हुआ है, यह सिद्धान्त क्या समीचीन है?

पुराण में वेद के सङ्कलन का जो विवरण पाया जाता है उससे ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने ही यह सङ्कलन-कार्य किया था। वेदव्यासजी महाभारत युद्ध के समसामयिक हैं। इस मत के समर्थक पाश्चात्य पण्डित लोग भी हैं, वे भी मानते हैं कि वेद के मन्त्रों का सङ्कलन-काल कुरु-क्षेत्र-युद्ध का सम-सामयिक है। वेदव्यास ने न

---

* भारती-सम्पादिका के कुछ प्रश्नों का उत्तर इस प्रबन्ध में दिया गया है।

केवल वेद-मन्त्रों का सङ्कलन किया था बल्कि पुराण-संहिता नाम रख कर उन्होंने, उस काल में प्रचलित आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि का भी संग्रह किया था।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

इस विवरण को काल्पनिक समझने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि शतपथ, ऐतरेय और तैत्तिरीय ब्राह्मण में आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प को स्वाध्याय का विषय Subjects of study कहा गया है, तथा कौषीतकी ब्राह्मण में आख्यानवेत्ताओं (आख्यानविद.) का उल्लेख पाया जाता है। वेदव्यास के जिन शिष्यों और प्रशिष्यों ने, वेद के सङ्कलन-कार्य में, अपने गुरु की सहायता की थी उनका नाम पुराणों में रक्षित है। वेद की जिन शाखाओं का पता लगा है, वे शाखाएँ इन्हीं लोगों के नाम से प्रचलित पाई जाती हैं। इसके द्वारा पौराणिक विवरण की सत्यता का समर्थन होता है।

ब्राह्मण, आरण्यक और प्राचीनतम उपनिषदों में जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का विवरण है उनमें से अधिकांश के प्रचारक भी व्यास जी के वही शिष्य और प्रशिष्य हैं। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है कि वे लोग ही उक्त तत्त्वों के आविष्कर्त्ता हैं, क्योंकि पाश्चात्यों ने ही स्वीकार किया है कि जिस विकसित आकार में हमें ये तत्त्व मिलते हैं वह दीर्घकालव्यापी पूर्व गवेषणा का फल है। दूसरे, उन ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों और ऋषियों की सम्प्रदाय-परम्परा का उल्लेख पाया जाता है। इस परम्पराक्रम से बहुत प्राचीन काल से भी भारत में ब्रह्मविद्या का प्रचलन था। वेदव्यास ने और उनके शिष्यों ने उसी का संग्रह भर कर दिया था। हमारे मत से वेदान्त उक्त ब्रह्मविद्या का ही अंशविशेष है—वही प्राचीन विद्या है।

ब्राह्मण और उपनिषद् की आलोचना करने से जान पड़ता है कि स्थान स्थान पर विवृत तत्त्व के समर्थनार्थ श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

इन श्लोकों की भाषा, अनेक स्थानो पर संहिता की भाषा की तरह प्राचीन है—अर्थात् उनकी रचना आर्षवैदिक संस्कृत में है, इससे प्रमाणित होता है कि बहुत प्राचीन ब्राह्मण-उपनिषदो के पहले भी अध्यात्म-विद्याविषयक बहुत से श्लोक ऋषि-समाज मे प्रचलित थे। उन श्लोकों से पता लगता है कि बहुत प्राचीन काल मे ही ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्त इस प्रकार श्लोकों के आकार में निबद्ध हो गया था। अतएव वेदान्त को आधुनिक या वैदिक युग का उत्तरकालवर्ती मानने के लिए हम तैयार नही हैं।

पाश्चात्यों ने भाषा के प्राचीन ढाँचे पर इस सम्बन्ध में जो सिद्धान्त स्थिर किया है वह हमे ठीक नहीं जान पड़ता। वेद के मन्त्रभाग को हम किसानो का गाना या शिशु मानव का कवितोच्छ्वास मानने को राजी नहीं हैं। वैदिक मन्त्र स्वर और वर्णात्मक हैं, उनकी शब्दावली पर्य्याय-निबद्ध है। उन स्वरो और वर्णों में तनिक सा भी उलट फेर हो जाय तो, ऋषियो के मत से, मन्त्र का मन्त्रत्व ही नहीं रह जाता। इसी से जिस समय जिस वैदिक मन्त्र की रचना हुई है, उसके परवर्ती काल मे भी उसकी भाषा में तनिक भी परिवर्तन नही हुआ है। इसी कारण उसकी आर्ष संस्कृत अक्षुण्ण है। गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रम से जो वाचनिक उपदेश प्राचीन ऋषि-समाज में प्रचलित थे वे कुरुक्षेत्र-युद्ध के परवर्ती काल में सङ्कलित किये गये और उस समय जो भाषा प्रचलित थी उसमें ग्रथित कर लिये गये। बहुत से वैदिक मन्त्रो की रचना इससे बहुत पहले हो चुकी थी, इससे उनकी भाषा प्राचीनतर है, किन्तु उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ब्राह्मण भाग और उपनिषदों में ग्रथित तत्त्वावली वैदिक युग के परवर्त्ती काल की है, खासकर जब कि उन ग्रन्थों मे ही आर्ष वैदिक भाषा में लिखित अध्यात्मविद्या-विषयक श्लोक उद्धृत पाये जाते हैं।

वेद के मन्त्रभाग का विषय है—प्रायः सर्वत्र यज्ञीय देवता के उद्देश्य से बनाये गये अथवा यज्ञ में व्यवहार्य मन्त्र। ऋग्वेद के दशम मण्डल

में अध्यात्मविद्या विषयक कुछ ऋचाओं का संग्रह है जरूर, लेकिन वे ऋचाएँ वैदिक युग के आध्यात्मिक श्लोक हैं—वे मन्त्र नहीं हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों की प्रतिपाद्य है ब्रह्मविद्या (जिसके अन्तर्गत वेदान्त है)। अतएव विषय-विभाग में वेद और वेदान्त पृथक् वस्तुएँ हैं। एक को दूसरे का पूर्ववर्ती अथवा जनकस्थानीय मानने का यथेष्ट हेतु हमें नहीं देख पड़ता।

दर्शन का मौलिक अर्थ है साक्षात्कृत सत्य अर्थात् अपरोक्ष प्रत्यक्ष-लब्ध ज्ञान। ऐसा दर्शन "ऋषि" के सिवा दूसरे के लिए अगम्य है। ऋषि का अर्थ है द्रष्टा (Seer)। परवर्ती काल में दर्शन शब्द पाश्चात्य 'फिलासफी' शब्द का एकार्थ-वाचक हो गया है। उसी अर्थ में चार्वाक मत भी दर्शन शब्द का प्रतिपाद्य हो गया है। हिन्दुओं के जो छः दर्शन अर्थात् छः आस्तिक दर्शन (न्याय और वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जल, पूर्व मीमांसा और उत्तर-मीमांसा) हैं, वे सभी धर्मशास्त्र के अंगीभूत नहीं हैं, इनमें से केवल मीमांसा और वेदान्त ही स्मृति में गिने जाते हैं। वेद के दो भाग हैं, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संहिता और ब्राह्मण कर्मकाण्ड के प्रतिपादक हैं, आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक हैं। कर्मकाण्ड और वेद के विरुद्ध अंश की सामञ्जस्य-रक्षा करना ही प्रधानतया मीमांसा-दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है, और वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ज्ञानकाण्ड वेद का विरोध मेटना तथा उसका समीकरण करना। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जल स्थान स्थान पर श्रुति-विरोधी हैं। उन दर्शनों के जिन जिन

२—हिन्दू लोग दर्शन संज्ञा को धर्मशास्त्र की अङ्गीभूत समझते हैं या नहीं? चार्वाक-दर्शन बौद्धदर्शन इत्यादि में दर्शन शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त है क्या उसी में वेदान्तदर्शन भी है? मैक्समूलर, शोपेनहर, डासन प्रभृति वेदान्तभक्त पाश्चात्य पण्डितों ने क्या हिन्दुओं की ही भाँति वेदान्त का मर्म ग्रहण किया है, अथवा उनके समझने की प्रणाली स्वतन्त्र है?

अंशों में श्रुति का विरोध है, वे अंश अग्राह्य हैं, जैसे नैयायिक और वैशेषिक का अभिमत परमाणु की नित्यता या सांख्य और पातञ्जल का अभिप्रेत अचेतन प्रकृति का स्वत:सिद्ध जगत्-रूप में विपरिणाम। हिन्दू की दृष्टि से, मीमांसा और वेदान्तदर्शन में, वेद के विरुद्ध कुछ भी नहीं है, इस लिए उक्त दोनों दर्शन सोलहों आने ग्राह्य हैं।

आजकल हम दर्शन शब्द से जो कुछ समझते हैं, वेदान्तदर्शन केवल उतना ही नहीं है। वेदान्त में सृष्टितत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, जीवतत्त्व, देवतत्त्व, साधनतत्त्व और उपासनातत्त्व प्रभृति अनेक तत्त्वों का समावेश है, उन सब का आधार उपनिषद् में है। पाश्चात्य पण्डितों ने वेदान्त के ब्रह्म-प्रतिपादक कुछ तत्त्वों का (जो तत्त्वसमूह वेदान्त का दर्शनांश या Philosophy है) ही आस्वादन किया है। इसके सिवा जो वेदान्त है उसको रहस्य (Mysticism) कहकर वे उसका परिहास करने से भी नहीं चूके हैं। मनीषी मैक्समूलर जो अपने जीवन के पिछले दिनों में वेदान्तदर्शन के परम भक्त हो गये हैं, उन्होंने भी उपनिषद् के प्रसंग में कहा है कि जिस प्रकार खान में बहुत से कङ्कड़-पत्थरों, धूल-कीचड़ और मिट्टी में कहीं कभी एक टुकड़ा सोने का मिल जाता है उसी प्रकार उपनिषद् के जञ्जाल और कचड़े में भी कहीं पर तत्त्व-रत्न पाया जाता है। ऐसी सङ्कुचित प्रशंसा का मतलब यह है कि मैक्समूलर दर्शनांश के सिवा वेदान्त की अन्य तत्त्वराशि को हृदयङ्गम नहीं कर सके। इसी से देखा जाता है कि अनेक स्थानों पर पाश्चात्य पण्डितों ने शङ्कराचार्य का आसन उपनिषद् के ऋषियों के ऊपर बतलाया है। किन्तु यदि शङ्कराचार्य से इस आसन पर बैठने के लिए कहा जाता तो वे मर्माहत होते। सम्पूर्ण वेदान्त और ब्रह्मविद्या अभिन्न वस्तु है, अतएव ब्रह्मविद्या का ठीक ठीक मर्म ग्रहण न कर सकने पर वेदान्त का तत्त्व हृदय में परिस्फुट होने की सम्भावना नहीं है। ब्रह्मविद्या को आयत्त करने योग्य इन्द्रिय अभी तक पण्डित-समाज में विकसित नहीं

हुई है, क्योंकि पण्डितों की पूँजी निरी बुद्धि है। किन्तु वेदान्त तो बुद्धिग्राह्य नहीं है—वह बोधिग्राह्य है, intellect लभ्य नहीं है, intuition लभ्य है। अतएव हमें बहुत ही कम आशा है कि पण्डित-समाज कभी वेदान्त के वास्तविक तत्व को ग्रहण करने में समर्थ होगा। इसी से जान पडता है कि वेदान्त का जो भग्न अंश बुद्धि की सहायता से थोड़ा बहुत आयत्त किया जाता है और शङ्कराचार्य ने अपने अपूर्व भाष्य में जिसको विशद करने की चेष्टा की है सिर्फ वही अंश पाश्चात्यों के चित्त को आकर्षित करने में समर्थ हुआ है।

किन्तु प्राचीन भारत में दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण किया जाता था। अधिकारी के सिवा चाहे जिस आदमी को वेदान्त पढने का अवसर नहीं मिलता था। जो लोग साधन-चतुष्टय सम्पन्न होते थे, अर्थात् विवेक, वैराग्य, शम, दम, शान्ति, समाधान, श्रद्धा, मुमुक्षुत्व प्रभृति चित्तसम्पद् जिनके आयत्त हो जाती थी वे ही वेदान्त पढने के अधिकारी माने जाते थे। फिर भी सम्प्रदाय अथवा श्रेणी-विशेष के भीतर वेदान्त आबद्ध न था। आर्यजातीय त्रिवर्णों में से सभी, योग्य हो जाने पर, वेदान्त पढने के अधिकारी हो सकते थे। अनधिकारी के हाथ में पडकर वेदान्त की अमर्यादा न हो, अर्थात् वन में मोती न बिखरा दिये जायँ, इस विषय में पुराने लोग बहुत ही सावधान रहते थे। ऐसी सावधानी सिर्फ प्राचीन भारत में ही न रक्खी जाती थी, बल्कि यूनानी, यहूदी, चीनी, क्रिश्चियन और बौद्ध—सभी सम्प्रदायों में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग (Exoteric और Esoteric) का प्रभेद रहता था। उपनिषद् के पढने से मालूम होता है कि अनेक स्थानों में ब्राह्मणों को क्षत्रियों से ब्रह्म-विद्या-विषयक उपदेश प्राप्त होता था। अजातशत्रु, अश्वपति, और कैकेय प्रभृत्ति का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेख करने योग्य है। बृहदारण्यक में देख पडता है कि क्षत्रिय

३—वेदान्त ब्राह्मणेतर किसी जाति का पाठ्य था या नहीं ?

राजा जनक के सभापतित्व मे याजवल्क्य प्रभृति ब्राह्मणो ने ब्रह्मविद्या की आलोचना की थी। हमे जहाँ तक स्मरण है, सिर्फ एक स्थान पर, शूद्र रैक्व को ब्रह्मविद्या के प्रसग मे लिप्त देखा जाता है। प्रचलित ब्रह्मसूत्र में उक्त स्थान के शूद्र शब्द की कष्ट-कल्पना करके अर्थान्तर सिद्ध किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वेदान्त-दर्शन ने जिस समय वर्तमान आकार धारण किया उस समय शूद्र के लिए वेदान्त की आलोचना करना सर्वथा निषिद्ध हो गया था किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनो वर्णो को सदा वेदान्त पढने का अधिकार था और है।

४—वेदान्त सर्वसाधारण का माना जा सकता है या नहीं ?

पहले ही कहा जा चुका है कि वेदान्ततत्त्व बुद्धिग्राह्य नही—बोधिप्राप्य है। वेदान्त का रहस्याश कभी सर्वसाधारण के लिए गम्य नही हो सकता। परिमार्जित बुद्धिवाले के सिवा और की समझ मे आने लायक दर्शनाश भी तो नहीं है। और भी वक्तव्य यह है कि जिसके साथ निरी बुद्धि का सम्बन्ध है वह विषय कभी धर्मेय प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता। धर्म-पिपासा को शान्त करने के लिए बुद्धि के साथ चित्त का, ज्ञान के साथ भक्ति का और बोध के साथ भाव का सम्मिलन होना चाहिए। और अद्वैत वेदान्त से कभी वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिए हमे जान पडता है कि वेदान्त को सर्वसाधारण के लिए धर्मस्थानीय करने की चेष्टा न केवल व्यर्थ ही होगी, बल्कि उसमे प्रचुर अनिष्ट का बीज मौजूद है। एक बार अपात्र में अद्वैत-वेदान्त का प्रचार होने से नास्तिकता, कठोरता और आध्यात्मिक स्वार्थपरता का उद्दीपन हो गया था। जीव के हित के लिए कर्म करना अद्वैत-वेदान्ती आवश्यक नहीं समझते थे। अपनी मुक्ति को सार मानकर, जगत् से सम्पर्क छोडकर, वे "प्रत्यक् बुद्धत्व" की निन्दित पदवी पर प्रतिष्ठित होने का व्यर्थ प्रयास करते थे। जातीय जीवन की

इस सङ्कटमय अवस्था में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद मत का पुनः प्रचार करके भक्तिमिश्रित ज्ञान और ईश्वर-सम्पर्कित साधना की प्रतिष्ठा की। तब से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सग्राम लगातार होता आ रहा है। उपनिषत्-प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या अथवा प्रकृत वेदान्त विरोध-सघर्ष से बहुत ऊँचाई पर स्थित है। वहाँ पर द्वैताद्वैत का, ज्ञान भक्ति का, सगुण निर्गुण का अपूर्व समन्वय और सामञ्जस्य है। शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों ही स्वीकार करते हैं कि उपनिषद् में सविशेष और निर्विशेष, सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का उपदेश है, तो भी शङ्कराचार्य के मत से सगुण ब्रह्म और रामानुज के मत से निर्गुण ब्रह्म अवान्तर काल्पनिक वस्तु है। आचार्यों के इस मतद्वैध-स्थान पर जो श्रुति या उपनिषद् वाक्य हैं उनको दोनों ने शिरोधार्य किया है—उसी के प्रकाश में हमें अपना रास्ता ढूँढ लेना चाहिए। यदि हम निष्ठा और ऐकान्तिकता के साथ वैसा करने का प्रयत्न करें तो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का कम से कम प्रभेद हटाकर उन दोनों की मर्मान्तिक एकता को हृदयङ्गम कर सकेंगे।

५—वेदान्त की विशेष श्रेष्ठता क्या है?

जीव, जड और ब्रह्म इन तीनों चरम पदार्थों का स्वरूप, सम्बन्ध और सस्थान ही वेदान्त का प्रतिपाद्य है, इस सम्पर्क में जो चरम सिद्धान्त है उसे ऋषि लोग ज्ञानदृष्टि से प्रत्यक्ष देखकर जीव के भले के लिए वेदान्त में प्रचारित कर गये हैं। यह सारा तत्त्वज्ञान मनुष्यबुद्धि के लिए अतीत है, और उसी के निर्णय के ऊपर मानव-जीवन-समस्या निर्भर है। उसी निर्णय को वेदान्त हमारे आयत्त करता है। बस, यही वेदान्त या ब्रह्मविद्या का उद्देश्य और प्रयोजन है। मनुष्य की बुद्धि जितनी ही प्रसारित होगी, मनुष्य का भाव जितना ही मार्जित होगा, मनुष्य का

चित्त जितना ही विकसित होगा, उतना ही वेदान्ततत्त्व उसके लिए साफ-साफ खुल जायगा, उतना ही वह चरम सत्य का साक्षात्कार करने में समर्थ होगा। जिस प्रकार दृष्टि की प्रखरता के तारतम्य के अनुसार दर्शनीय वस्तु का विस्तार बढ़ जाता है, उसी प्रकार हमारे आत्म विकास के तारतम्य के अनुसार वेदान्त के अर्थ और तत्त्व का विस्तार साधित होता है।

वेदान्त और बालफोर

वेदान्त ने विश्व-मानव को जिन आर्य सत्यों का उपदेश दिया है उनका मुख्यतम उद्देश्य है ब्रह्म की अद्वयता। ब्रह्म एक और अद्वितीय है—

सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्

—छान्दोग्य, ६ । २ । १

'पहले एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान था।' अर्थात् ब्रह्म केवल एक नहीं है—वह अद्वितीय है।

न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्त यत् पश्येत्

बृह० ४ । ६ । २३

यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येत् अन्योऽन्यत् जिघ्रेद् अन्योऽन्यद्रसयेद् अन्योऽन्यद्वदेत् अन्योऽन्यमन्वीत अन्योऽन्यच्छृणुयात् अन्योऽन्यमन्वीत अन्योऽन्यत् स्पृशेद् अन्योऽन्यद्विजानीयात्।

—बृह० ४ । ३ । ३१

उसके सिवा जब दूसरा नहीं है तब उससे भिन्न को कौन किस प्रकार देखेगा ? यदि अन्य कुछ होता तो दूसरा दूसरे को देखता, सूंघता, स्वाद लेता, बात-चीत करता, सुनता, मनन करता, स्पर्श करता और जानता।

यह एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही परात्पर परम तत्त्व है।

यस्मात् परम् नापरम् अस्ति किञ्चित्—श्वेत ३ । ९

'जिसका पर और अपर कोई कुछ नहीं है।' क्योंकि वेदान्त मत मे सब कुछ ब्रह्म ही है।

सर्व्वं खल्विद ब्रह्म।—छा० ६ । १४ । १

उसके सिवा और कोई कुछ नहीं है।

स एवाधस्ताव् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्व्वमिति।—छा० ७ । १५ । २

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दाहनी तरफ है, वही बाई तरफ है, उसके सिवा और कोई कुछ नहीं है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में वदान्त का उपदेश यह है कि वह निर्विशेष, निर्विकल्प, निरुपाधि और निरञ्जन है। वह अनिरुक्त, अनिर्देश्य, अवाच्य, अमेय और अज्ञेय है।

अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्माद् अन्यत् परम् अस्ति।
—बृहदारण्यक, २ । ३ । ६

उसका परिचय इतना ही है कि वह यह नहीं है, उसके परे और कुछ नहीं है।

एतस्मिन् अदृश्ये अनात्मे अनिरुक्ते—तैत्ति २ । ७

यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम्—मुण्डक, १ । ६

जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है और अवर्ण है।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।—तैत्ति० २।९।१

जिसका पता न पाकर वाचा और मन लौट आते हैं।

निष्कल निष्क्रियं शान्तं निरवद्य निरञ्जनम्।

यह जो निरुपाधि निरञ्जन ब्रह्म है, यह न तो सत् है और न असत्। यह न तो चित है और न जड़, यह न तो प्रकृति है और न, पुरुष, न तो अध्यात्म है और न अधिभूत।

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तेन नासद् उच्यते।—गीता, १३।१२

अथवा वह सत्य-स्वरूप और असत्य रूप भी है।

नमस्ते सत्यरूपाय नमस्तेऽसत्यरूपिणे।—सूतसंहिता।

वह चेतन होकर भी जड़ है।

कश्चेतनोऽपि पाषाणः।—योगवाशिष्ठ।

वह निर्दु:ख होकर असुख है।

निर्दु:खम् असुखञ्च यत्—महाभारत।

वेदान्त का कहना है कि यह जो अव्यक्त, अव्याकृत, अनिरुक्त ब्रह्म है—न जाने क्यों उसमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' बहुत होने की कामना का समुदय हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि—ऋग्वेद।

स अकामयत एकोऽहं बहु स्याम्।

इस बहुत होने (Manifestation) की इच्छा को वेदान्त की भाषा मे सिसृक्षा कहते हैं। तब वह एकमेवाद्वितीय 'तद्' 'स.' अर्थात् पुरुष हुआ। तब वह निरुपाधि ब्रह्म मायारूप उपाधि को अङ्गीकार करके महेश्वर होता है—मायिनन्तु महेश्वरम्।

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपात्।

यह माया की उपाधि का अङ्गीकार ब्रह्म का अपनी इच्छा से है।

इस प्रकार माया उपाधि को अङ्गीकार करके ब्रह्म अपने को मानों सकुचित करता है। जैसे मकड़ी जाले को तनकर उसमें स्वय घिर जाती है वैसे ही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म प्रधानज जाल मे अपने स्वभाव को मानो घेर लेता है।

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतो देव एक. स्वमावृणोत् ।—श्वेत० ६।१०

जिस प्रकार दुर्निरीक्ष्य तेजोमण्डल को फानूस के द्वारा घेरने से उसकी ज्योति मानों कुछ संकुचित हो जाती है वैसा ही भाव माया-उपाधि को अङ्गीकार करने से ब्रह्म का भी होता है। इसी लिए 'वेदान्त ने माया को ब्रह्म की यवनिका अथवा तिरस्करणी कहा है—'भगवत्स्व-रूप-तिरोधानकारी।'

'एक मैं बहुत होऊँगा' इस सिसृक्षा का उदय होने पर ब्रह्म की मायारूप प्रकृति परा और अपरा इन दो भावों में सभिन्न हो जाती है।

या परापरसंभिन्ना प्रकृतिस्ते सिसृक्षया।

परा प्रकृति=चित् (Sririt), अपरा प्रकृति=जड़ (Matter)। जीव और जड, पुरुप और प्रकृति,ब्रह्म से स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं। क्योंकि ब्रह्मैवेद सर्व्वम्। ये सब उसी के प्रकार या भेद मात्र हैं।

प्रलय की एकाकार अवस्था मे यह चित् और जड, प्रकृति और पुरुष ब्रह्म में अव्यक्त हो जाते हैं। तब वह एकमेवाद्वितीय हो जाता है। उक्त अवस्था उसकी योग-निद्रा है—प्रसुप्तमिव सर्व्वतः। तब प्रकृति और पुरुप ब्रह्म में सयुक्त होकर एकीभूत बने रहते हैं। फिर प्रलय का अन्त होने और योगनिद्रा टूट जाने पर जब ब्रह्म में सिसृक्षा का उदय होता है, तब द्विधा-सभिन्न उसकी प्रकृति वही चित् और जड, प्रधान और क्षेत्रज्ञ, रूप मे आविर्भूत होती है। जिस प्रकार लोहे मे चुम्बकशक्ति का Positive और Negative भेद योगनिद्रा में आच्छन्न रहता है किन्तु तडित् वृत्त के बीच में आने पर लोहे में सोई हुई वह चुम्बकशक्ति उद्बुद्ध होकर पु और स्त्री (Positive और Negative) भेद से अलग अलग हो जाती है

इसी प्रकार ब्रह्म में सृष्टि की प्रवृत्ति का स्फुरण होने पर उसकी योगनिद्रा भङ्ग हो जाती है और उक्त परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु वास्तविक पक्ष में यह केवल नाम रूप की विजृम्भणा—वाक्य की योजनामात्र है। वास्तव में यह चित् और जड़, यह प्रकृति और पुरुष, उस ब्रह्म का ही विभाव या विलासमात्र है।

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं एवं सोम्य स आदेशः।

—छा० ६।१।४

जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से ही सारे मृण्मय पदार्थों को जाना जा सकता है, क्योंकि वाक्य की योजना और विकार नाम का प्रभेदमात्र है—मिट्टी ही सत्य है, वैसा ही उपदेश ब्रह्म के विषय में भी है।

इस प्रबन्ध के शीर्षक में, वेदान्त के साथ हमने बालफोर का नाम जोड़ दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह संयोग अनुप्रासमात्र नहीं है।

ग्लासगो विश्वविद्यालय में, कुछ समय पहले, लार्ड बालफोर ने "Theism and Thought" इस नाम से जो व्याख्यान दिये थे वे प्रकाशित हुए हैं। उनके देखने से जान पड़ता है कि उक्त लार्ड साहब एक प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। आर्थर जेम्स बालफोर (Arthur James Balfour K G O. M F R S L. L D D C. L Litt D Ph D) इँगलैंड के सुपरिचित व्यक्ति हैं। राजनीति-क्षेत्र में भी उनका खासा नाम और धाक है। वे अनुदारदल के प्रधान व्यक्ति हैं। इसके सिवा वे विचारशील और सुलेखक हैं। दर्शन विभाग में उनका खासा भाग है। इन्हीं बालफोर साहब ने उक्त व्याख्यानों में जिस तरह

विश्व के परतत्त्व की आलोचना की है उससे प्रकट होता है कि वे (शायद बिना ही जाने) वेदान्त की भूमिका में आरोहण करने के लिए बाध्य हुए हैं। वे कहते हैं कि बुद्धि (Intellect) ही हमारा सर्वस्व नहीं है। बुद्धि के ऊपर बोधि है, जिसे पाश्चात्य लोग Intuition कहते हैं। Intellect is not the sole faculty possessed by the human Ego. किन्तु वह अलग बात है।

वे और भी कहते हैं कि जड़ के सिवा मनुष्य का चित्भूमि के साथ एक संयोग है। Besides our physical environment there is another—one which the physicist has been known to deny—our Spiritual environment. यहाँ तक आगे आकर बालफोर साहब Spirit और Matter अर्थात् चित् और जड का स्वरूप बतलाते हैं—Of course there is no such thing as pure 'spirit'. Even matter in the old sense of the word does not exist Spirit and Matter are only names differentiating two mentally recognisable states of the one Substance which alone has—nay, which alone is—'Life'. Otherwise spirit and matter are identical and inseparable.

यह वेदान्त की भूमिका है। चित् और जड वास्तव में अलग अलग वस्तुएँ नहीं हैं—उसी एक सत्ता के विभावमात्र हैं, यह बात हमें वेदान्त द्वारा पहले ही मालूम हो चुकी है। इसी अद्वितीय सत्ता को लक्ष्य करके लार्ड बालफोर कहते हैं—

'Spirit', however, is the name which, reasonably or unreasonably, has commonly been given hitherto to that positively conceivable but defini-

tely incomprehensible aspect of this one all-substanding Ens which we mean when, with the Germans, we speak of the *Ding an sich*, the "thing in itself" considered as distinct from whatever attributes it may possess when manifested '

यह जो thing-in-itself है—जो अज्ञेय और अमेय है, जो अ-विदित होकर भी 'सर्वबोध-विदित' है, यही वेदान्त का ब्रह्म है। इस ब्रह्म के सम्बन्ध मे वे और भी कहते हैं——The one Sole Reality eternal, infinite, which substands all things—itself unmanifest but made manifest through them. यह भी वेदान्त की प्रतिध्वनि है।

बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीत इत्यादि।

—बृह० ४।५।८

जिस प्रकार दुन्दुभि के बजाये जाने से बाहरी शब्द ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु दुन्दुभि को पकडने से दुन्दुभि का शब्द भी पकड में आ जाता है, यह भी वैसा ही है।

इसी लिए वेदान्त ने ब्रह्म को सत्यस्य सत्य कहा है। क्योंकि ब्रह्म ही परमार्थ (Sole Reality) है। उसकी सत्ता से ही सारे जगत् की सत्यता का भान होता है (empirical reality)।

तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति—बृह० २।१।२०

बालफोर साहब कहते हैं कि इस ब्रह्मसत्ता को "Person" नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसे "पुरुष" कहने से शायद दोष नहीं होता। वेदान्त का यही उपदेश है—

पुरुष एवेदं सर्व्वं यत् भूतं यच्च भाव्यम्।

True a Being such as that cannot possibly possess a "personality"—for personality implies limitation; but there is no reason at all why such a Being should not posses 'individuality' and consciousness.

शङ्कराचार्य ने भी इसी से मिलती-जुलती बात कही है कि यदि वह पुरुष ज्ञानमय, इच्छामय न होता तो 'जगदान्ध्य प्रसज्येत।' इसी से उपनिषद् का उपदेश है,—सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म।

वह अनन्त ब्रह्म (बालफोर साहब जिसे Supreme Individuality कहते हैं) सिसृक्षा का उदय होने पर अपनी इच्छा से बनाई हुई उपाधि को अङ्गीकार करके ससीम और सगुण होकर जो सृष्टि में व्याकृत होता है, वेदान्त के इस तत्त्व का आभास भी बालफोर साहब को मिल गया है।

If, then, we think of a time which (logically) preceded all volution (involution or evolution), some point in the absolute "now" i. e, Reality, apart from the idea of duration, when, for purposes of so-called Creation, this Supreme Individuality determined voluntarily to subject itself to conditions (e. g of time, space, and causality)—does it not follow that the beginnings of manifested life would represent the Divine Nature (including its Consciousness) under conditions so complex as practically to neutralize all its inherent activities—a stage which may perhaps best be described as Consciousness at its functional

zero ? Can we not imagine this as one that preceded the first stage with which we have any practical acquaintance—the 'inorganic stage' ?

वास्तविक तत्त्वसृष्टि के पहले (जिसे बालफोर साहब 'Inorganic stage' कहते हैं) सृष्टि के और दो मुहूर्त्त या moments रहते हैं। साख्यवादी इनको महत्तत्त्व और अहकार कहते हैं। महत्तत्व की प्रक्रिया अध्यवसाय है और अहङ्कार की प्रक्रिया अभिमान है। इन दोनों मुहूर्त्तों की सूचना वेदान्त के 'स ऐक्षत' और 'एकोऽह बहुःस्याम्' इन दो वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट हुई है।

ये सारे वैदान्तिक भाव पाश्चात्य लोगों में क्रमशः यहाँ तक बद्धमूल हो रहे हैं कि आजकल एक दैनिक अगरेजी पत्र में एक लेखक ने मिसर-सम्बन्धी एक धर्म्मपुस्तक की आलोचना करने जाकर इन सारी बातों की प्रतिध्वनि की है। उक्त लेखक का कहना है कि हिन्दू जिसे परमात्मा या Unmanifest Supreme Ens कहते हैं उस तत्त्व से प्राचीन मिसरी लोग अपरिचित नहीं थे।

They knew that for purposes of so-called 'Creation,' by an eternal act of voluntary self-sacrifice, that Param Atman subjects itself to conditions and limitations of time, space and causality, though by a logically subsequent act it also throws those conditions and limitations off, thus recognizing itself what it really is—the Supreme Divine Ens—but now manifested in a derivative order of being, that for this Manifest World or World of Existence, whether as whole or in all its countless parts, there is only one

Conscious Life—a Consciousness that is common to all finite organisms—that of the Param Atman, that from beginning to end, the entire career of the World of Existence is nothing more or less than the sum of the unimaginably multitudinous and complex experience of that one and only Conscious Life, in course of its involutional development, under the aforesaid selfimposed conditions and limitations; that in the World of Existence every individual entity or personality, human or otherwise, is only one temporarily or spatially conditioned or limited aspect of that Divine Career, that every human personality, though not the Param Atman itself, is yet essentially one with that Supreme Ens, and that the Consciousness, though seemingly only human, is really the Divine Consciousness functioning within self-imposed limits

ये सारी बातें वेदान्त की ही तो हैं। प्राचीन मिसरी लोग यदि सचमुच इन मतवादों को जानते-मानते थे तब तो वे हमारे अन्तरङ्ग मित्र—निपट वेदान्ती हैं। इस युग में यदि बालफोर साहब की भाँति समझदार लोग भी इस मत को मानना आरम्भ कर दें तो फिर उन्हें भी हम वेदान्ती कहने में प्रसन्न होंगे। पञ्जाब-केसरी रणजीतसिंह कहते थे—'सब लाल हो जायगा।' हमें भी जान पड़ता है कि इस प्रकार वेदान्तिक भाव का प्रसार होने पर जगत् शीघ्र ही वेदान्तमय हो जायगा।

---

(३)

वेदान्तिक समन्वय

१—दर्शन शब्द का निरुक्त

श्रीमत् माधवाचार्य ने अपने बनाये 'सर्व्वदर्शन-सग्रह' में चार्व्वाक-दर्शन से लेकर लगातार १५ दर्शनों का परिचय देकर ग्रन्थ के अन्त में कहा है—

इतः परं सर्व्वदर्शन-शिरोमणिभूत शाङ्करदर्शनमन्यत्र लिखितम् इत्यत्र उपेक्षितमिति।

शाङ्कर दर्शन समस्त दर्शन शास्त्र का शिरोमणि है या नहीं, इस विषय में अवश्य ही मतभेद होगा। किन्तु हमें इस समय उस प्रसङ्ग की आलोचना नहीं करनी है। हमें तो यही पूछना है कि माधवाचार्य ने इस स्थान पर जो पारिभाषिक अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग किया है, इसकी जड कहाँ पर है।

आर्य जाति का आदि-ग्रन्थ वेद है। संहिता भाग की पद सूची की सहायता से मालूम होता है कि केवल एक बार ऋग्वेद में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग है ही नहीं।

पशुम् न नष्टम् इव दर्शनाय विष्णापर ददथू विश्वकायम्।

— ऋग्वेद, १। ११६। २३

यहाँ पर 'दर्शनाय' पद का अर्थ 'देखने के लिए' है। वेद के संहिता भाग में 'दर्शन' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग है। उसका अर्थ है—'दर्शनीय'।

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहे गृहे ।—१० । ११ । २

ऋक् संहिता में 'दर्शन' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है वही इसका मौलिक अर्थ है। इसी अर्थ में छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है—

दर्शनाय चक्षुः ।—८ । १२

गर्भ-उपनिषद् से हमें मालूम हुआ है—

दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति ।—गर्भ० ५

"दृश्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से, जिसके द्वारा देखा जाय, उस चक्षु को 'दर्शन' कहना स्वाभाविक है। उपनिषद् का कहना है—

मनोऽस्य दैवं चक्षुः ।—छा० ८ । १२ । ५

अर्थात् 'मनुष्य की दैवी आँख मन है।' इस दैवी आँख के द्वारा जो दर्शन होता है उसको भी 'दर्शन' कहना असङ्गत नहीं है। चर्मचक्षु नेत्र जिस तरह भ्रम और प्रमा दोनों को देखता है उस तरह दैव चक्षु मन भी मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दर्शन दोनों किया करता है। अतएव 'दर्शन' शब्द का यह अर्थसम्प्रसार अवैध नहीं है। पातञ्जल सूत्र के व्यास भाष्य में, इसी भाव में, 'दर्शन' शब्द का प्रयोग देख पड़ता है।

वस्तु-साम्येऽपि अविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं,

सम्यग् दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्य ज्ञानम् ।

पाली त्रिपिटक में भी, इसी भाव में, सम्यक् दर्शन का प्रयोग देख पड़ता है। श्री शङ्कराचार्य ने भी लिखा है—

येतु निर्व्बन्धं कुर्व्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमाना श्रेयोद्वारं सम्यग्-दर्शनमेव बाधन्ते ।—१ । ४ । २२ सूत्र का शाङ्कर भाष्य ।

शङ्कर से बहुत पहले पञ्चशिखाचार्य ने सूत्र बनाया था—

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।

यहाँ पर भी 'दर्शन' शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ नहीं है दर्शनशास्त्र कहने से जो समझा जाता है, 'दार्शनिक' शब्द के साथ

अर्थ जुडा हुआ है, 'दर्शन' शब्द का वह पारिभाषिक अर्थ आया कहाँ से ?

वेद की सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषद् में ऐसे पारिभाषिक अर्थ मे 'दर्शन' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता। सूत्राकार में जो षड्दर्शन हमारे यहाँ प्रचलित हैं उनमें भी, पारिभाषिक अर्थ में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। ब्रह्मसूत्र में (जिसे 'वेदान्तदर्शन' कहते हैं) कई बार 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है सही, किन्तु उसका अर्थ 'फिलासफी' नहीं है। तो फिर 'दर्शन' शब्द का यह पारिभाषिक अर्थ आया कहाँ से ?

माधवाचार्य ने जिस समय 'सर्व्वदर्शनसग्रह' की रचना की उस समय 'दर्शन' शब्द ने बेधडक पारिभाषिक अर्थ ग्रहण कर लिया है। उन्होंने लिखा है—

श्रीमत्सायनदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा।
क्रियते माधवाचार्येण सर्व्वदर्शनसंग्रहः॥

उनके पूर्ववर्ती 'सर्वसिद्धान्तसग्रह' में भी (जो कि श्री शङ्कराचार्य के नाम से प्रचलित है) 'दर्शन' शब्द का फिलासफी अर्थ साफ-साफ है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने लोकायतिक, आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर, भट्ट, साख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास और वेदान्त—इन ग्यारह पक्षों या दार्शनिक मतों का परिचय दिया है। यह सग्रह ग्रन्थ भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य का बनाया हुआ है या नहीं, इस विषय में सन्देह करने के लिए यथेष्ट कारण है। किन्तु शङ्कराचार्य के समय 'दर्शन' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में निःसन्देह होता था। क्योंकि हम देखते हैं कि शङ्कराचार्य ने वेदान्त को 'औपनिषद् दर्शन' कहा है—

तस्मात् अनतिशङ्कनीयम् इदम् उपनिषदम् दर्शनम् इति।

—२।१।२७ ब्रह्मसूत्र का शाङ्कर भाष्य।

उन्होंने अन्य स्थान में लिखा है—

वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणै. सम्यक्दर्शन प्रतिपक्षभूतानि सांख्यादि-दर्शनानि निराकरणीयानि ।

ईसा से पहले भास कवि ने, प्रतिमा नाटक में, रावण के मुँह से यह बात कहलाई है—

भो· काश्यपगोत्रोऽस्मि साङ्गोपाङ्ग वेदमधीये मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वर योगशास्त्रं बार्हस्पत्यं अर्थशास्त्रं मेधातिथेः न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्प च ।

यहाँ पर हमें माहेश्वर योगशास्त्र और मेधातिथि के न्यायशास्त्र का उल्लेख तो मिला, किन्तु दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं मिला। कौटिल्य सम्भवतः भास से कुछ पूर्ववर्ती हैं। वे प्रायः २३०० वर्ष के हैं। कौटिल्य ने चतुर्विध विद्याओं का—

आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या· ** चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः—

उल्लेख करके, सांख्य योग लोकायतञ्च इत्यान्वीक्षिकी—आन्वीक्षिकी त्रिविध, सांख्य, योग और लोकायत—इस त्रिविध दर्शन का उल्लेख किया है। यहाँ पर भी दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं पाया गया। किन्तु आन्वीक्षिकी के ये विभाग देखकर यह सिद्धान्त करना समीचीन न होगा कि वेदान्त, मीमांसा, न्याय और वैशेषिक उस समय प्रचलित न थे। क्योंकि वेदान्त और मीमांसा त्रयी के अन्तर्गत हैं तथा न्याय और वैशेषिक शायद कौटिल्य की दृष्टि में लोकायत के अन्तर्भुक्त हैं।

रामायण ने विद्या को तीन भागों में विभक्त किया है—

अष्टवर्ग त्रिवर्गञ्च विद्यास्तिस्रश्च राघव ।—२।१००।६८

ये तीन विद्याएँ हैं—त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। क्योंकि आन्वीक्षिकी, रामायण के मत से, विद्या के उच्च नाम की अधिकारिणी नहीं है—

बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ।—२।१००।३६

रामायण में देख पडता है कि राम भरत को सावधान कर रहे हैं—

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणान् तात सेवते ।

अतएव लोकायत आलोचना के योग्य नहीं है। किन्तु वार्त्ता और दण्डनीति ?

वार्तायां साम्प्रतं तात ! लोकोऽयं सुखमेधते ।

—अयोध्या० १०० । ४७

यात्रा दण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ ।
कच्चिद् एतान् महाप्राज्ञ ! यथावद् अनुमन्यसे ॥

—अयोध्या० १०० । ७०

भास कवि ने महाभारत की आख्यान-वस्तु को अवलम्बन करके कई नाटकों की रचना की है। कौटिल्य का भी महाभारत से परिचय था। महाभारत में सांख्य, योग, वेद, पाशुपत और पाञ्चरात्र का उल्लेख देख पडता है—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्र वेदाः पाशुपतं तथा ।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥
सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥
पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम् ॥

—शान्तिपर्व, ३४६।६४-६८

और भी देखा जाता है कि महाभारतकार ने 'दर्शन' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है—

एतद् आहुर्महाप्राज्ञा· सांख्यं वै मोक्षदर्शनम् ।—शान्तिपर्व, ३००।५
योगदर्शनमेतावत् उक्तं ते तत्त्वतो मया ।
साख्यज्ञान प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ।—ऐ० ३०६।२६
साख्यदर्शनमेतावद् उक्तं ते नृपसत्तम ।—ऐ० ३०७।१

ये श्लोक शान्तिपर्व के अन्तर्गत हैं। महाभारत के इस अश का वय.क्रम निर्धारित करना दुरूह है। इसी लिए 'दर्शन' शब्द का यह प्रयोग देखकर किसी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकते। अतएव 'दर्शन' शब्द का निरुक्त निर्धारित करने में हम असमर्थ हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में उपसन्न शिष्य को एकान्त में गुरु जिस रहस्य का उपदेश देते थे उसको प्राचीन लोग 'उपनिषद्' कहते थे। उन रहस्यों का उपदेश (गुह्या आदेशाः) सक्षिप्त सूत्र के आकार मे रक्षित रहता था। इनका साधारण नाम था उपनिषद्। 'तद्वन', 'तज्जलान्' प्रभृति इसके उदाहरण हैं। परवर्त्ती काल में उन रहस्यों का उपदेश जिन ग्रन्थों में ग्रथित हुआ उनका नाम हुआ उपनिषद्। "उपनिषद्" शब्द के इस निरुक्त में सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। किन्तु 'दर्शन' शब्द का निरुक्त तमसाच्छन्न है। इस अन्धकार में मार्ग का निर्णय करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना असङ्गत नहीं है।

२—दर्शन सर्व्वतोमुख सत्य का एक मुखदर्शन है

प्राचीन लोग सत्य के सर्व्वभौमत्व को स्वीकार करते थे। वे जानते थे कि सत्य सर्व्वतोमुख है। सत्य के सार्व्वभौम भाव के जिस भावाश का जिस ऋषि ने अनुभव किया है, सत्य के सार्व्वतोमुख स्वरूप का जो मुँह जिसकी मानस दृष्टि के गोचर हुआ है वही उसका 'दर्शन' हुआ हैं। सत्य सूर्य की शुभ्रज्योति है, वह सब रङ्गों के समन्वय से गठित है। जो रङ्ग जिसकी दृष्टि में, जिस परिमाण मे, प्रतिफलित हुआ है वही उसका 'दर्शन' है।

सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म ।

सत्य-स्वरूप ब्रह्म से विद्या की जो विप्लव-धारा प्रवाहित हुई है उसका निस्तार किसी एक नहर में नहीं हो सकता। हिमालय की जलधारा की भाँति वह अनेक नद-नदियो मे होकर सागर की ओर उमड़ी चली जाती है। इसी के लिए प्रस्थान-भेद है, इसी के लिए दार्शनिक मतान्तर है। शङ्कराचार्य के नाम से प्रचलित सर्वसिद्धान्त सग्रह के नमस्कार-श्लोक मे मानों इसी तत्त्व का इङ्गित पाया जाता है—

वादिभिर्दर्शनै सर्वैर्दृश्यते यत्त्वनेकधा ।
वेदान्तवेद्य ब्रह्मेदमेकरूपमुपास्महे ॥

अर्थात् 'वेदान्त-वेद्य, एकरूप जिस ब्रह्म को विवादकारी सब दर्शन अनेक रूप देखते हैं उसी की हम उपासना करते हैं।'

सत्य भी एक रूप है। ज्ञान-विज्ञान के ऊपर जो प्रज्ञान है उसी प्रज्ञान द्वारा सत्य की प्राप्ति हो सकती है। वादी विवादी समस्त दर्शन उसी सत्य का अनेक रूपों में दर्शन करते हैं। किन्तु दर्शन अनेक होने पर भी जो दृश्य है, जो सत्य है, वह एक ही है।

भिन्न भिन्न दर्शनशास्त्र सत्य के ऐकदेशिक साक्षात्कार हैं, इस बात का इङ्गित दार्शनिक-प्रवर विज्ञानभिक्षु ने साङ्ख्य प्रवचन-भाष्य के उपोद्घात मे किया है—

तत्र × × श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्ती षडाध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्तिर्भगवान् उपदिदेश। ननु न्यायवैशेषिकाभ्या अपि एतेष्वर्थेषु न्याय प्रदर्शित इति ताभ्यामस्य गतार्थत्व सगुणनिर्गुणत्वादिविरुद्धरूपै रात्मसाधकतया तद्युक्तिभिरत्रत्ययुक्तीना विरोधे नोभयोरपि दुर्घट च प्रामाण्यमिति। नैवम् व्यावहारिकपारमार्थिकरूपविषयभेदेन गतार्थत्व-विरोधयोरभावात्। न्यायवैशेषिकाभ्या हि सुखिदु ख्याद्यनुवादतो देहा-दिमात्र विवेकेनात्मा प्रथमभूमिकायामनुमापित । एकदा परमसूक्ष्मे

प्रवेशासम्भवात्। तदीयं च ज्ञानं देहाद्यात्मतानिरसनेन व्यावहारिकं तत्त्वज्ञानं भवत्येव। × × तथा तदीयमपि ज्ञानमपरवैराग्यद्वारा परम्परया मोक्षसाधनं भवत्येवेति। तज्ज्ञानापेक्षयापि च सांख्यज्ञानमेव पारमार्थिकं परवैराग्यद्वारा साक्षान्मोक्षसाधनं च भवति। × × न्यायवैशेषिकोक्तज्ञानस्य परमार्थभूमौ बाधितत्त्वाच्च। × × स्यादेतत्। न्यायवैशेषिकाभ्यामत्राविरोधो भवतु। ब्रह्ममीमांसायोगाभ्यां तु विरोधोऽस्त्येव। ताभ्यां नित्येश्वर साधनात्। अत्र चेश्वरस्य प्रतिषिध्यमानत्वात्। × × अस्मिन्नेव शास्त्रे व्यावहारिकस्यैवेश्वरप्रतिषेधस्यैश्वर्यवैराग्याद्यर्थमनुवादत्वौचित्यात्। यदि हि लौकायतिकमतानुसारेण नित्यैश्वर्यं न प्रतिषिध्यते तदा परिपूर्णनित्यनिर्दोषैश्वर्यदर्शनेन तत्र चित्तावेशतो विवेकाभ्यासप्रतिबन्धः स्यादिति सांख्याचार्याणामाशयः। × × तद्विवेकांश एव सांख्यज्ञानस्य दर्शनान्तरेभ्य उत्कर्षं प्रतिपादयति न त्वीश्वर प्रतिषेधांशोऽपि। × × किञ्च ब्रह्ममीमांसाया ईश्वर एव मुख्यो विषय उपक्रमादिभिरवधृत। तत्रांशे तस्य बाधे शास्त्रस्यैवाप्रामाण्यम्। × × सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थतत्साधनप्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषय इतीश्वरप्रतिषेधांशबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्। × × तस्माद् अभ्युपगमवादप्रौढिवादादिनैव सांख्यस्य व्यावहारिकेश्वरप्रतिषेधपरतया ब्रह्ममीमांसायोगाभ्या सह न विरोध।

अर्थात् 'इस सांख्य दर्शन में कपिलमूर्तिधारी भगवान् ने विवेकज्ञान के लिए श्रुति की अविरोधी विविध युक्तियों का उपदेश दिया है। आपत्ति हो सकती है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी जब वे सारी युक्तिया सविशेष प्रदर्शित हो चुकी हैं तब उनका पुनर्विवरण निष्प्रयोजन है। विशेषत' जब उन युक्तियों के साथ कपिल-प्रयुक्त युक्ति का विरोध देख पडता है। क्योंकि न्याय-वैशेषिक की युक्तियाँ सगुणप्रतिपादक हैं और कपिल की युक्तियाँ निर्गुण-परक। अतएव दोनों मत कभी प्रामाणिक नहीं हो सकते। इस आपत्ति का उत्तर यह है

व्यावहारिक और पारमार्थिक विषय-भेद को लक्ष्य करने से न तो कपिल-सूत्र की पुनरुक्ति रहती है और न विरोध आदि ही रह जाता है। पहले पहल परम सूक्ष्म में कोई प्रवेश ही नहीं कर सकता। इसी से न्याय और वैशेषिक ने सगुण व्यावहारिक आत्मा का प्रतिपादन किया है और उसी आत्मा को देहादि से भिन्न तथा सुख-दुःख के आश्रय रूप में प्रतिष्ठित किया है। अतएव न्याय वैशेषिक का ज्ञान पारमार्थिक न होने पर भी व्यावहारिक तत्त्वज्ञान के रूप में सत्य है और उसके द्वारा अपर वैराग्य सिद्ध होने से वह परम्परा के द्वारा मोक्ष का साधन है। उसकी तुलना में साख्य-ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है और पर-वैराग्य द्वारा साक्षात् रूप से मोक्ष का साधन है। × ×

आपत्तिकर्त्ता कह सकते हैं कि अच्छा, न्याय और वैशेषिक के साथ —न हो तो—साख्य मत का अविरोध मान लिया, किन्तु वेदान्त और योग के साथ इसका विरोध तो अपरिहार्य है। क्योंकि साख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है, किन्तु वेदान्त और योग दर्शन नित्य ईश्वर को स्वीकार करते हैं। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि साख्यदर्शन में, ऐश्वर्य में वैराग्य सिद्धि के लिए ईश्वर-वाद का प्रतिषेध सिर्फ व्यवहृत हुआ है। यदि साख्य-दर्शन लोकायतिकों के अनुकरण पर नित्य ऐश्वर्य का प्रतिषेध न करता तो परिपूर्ण नित्य निर्दोष ऐश्वर्य दर्शन से उसमें चित्त का अभिनिवेश होकर विवेकाभ्यास का प्रतिबन्धक हो सकता। यही ईश्वर के प्रतिषेध में साख्याचार्यों का अभिप्राय है। × ×

विशेषतः वेदान्त दर्शन में ईश्वर ही आद्योपान्त मुख्य विषय है। उस अश का बाध होने से शास्त्र ही तो अप्रामाणिक हो जाता है। साख्यशास्त्र में केवल पुरुषार्थ साधक प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान ही मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव साख्यदर्शन में ईश्वर-प्रतिषेधाश के बाध होने से भी साख्यमत का अप्रमाण्य नहीं होता × × अतएव अभ्युपगमवाद और प्रौढिवाद को अङ्गीकार करके साख्यदर्शन ने जो ईश्वर का

व्यावहारिक प्रतिषेध किया है उसके द्वारा वेदान्त और योगदर्शन के साथ इसका वास्तव में विरोध नहीं हुआ। क्योंकि वेदान्त और योग दर्शन में सेश्वरवाद पारमार्थिक है, किन्तु सांख्य का निरीश्वरवाद व्यावहारिक मात्र है।"

जब यह बात है तब दार्शनिक लोग वादी-विवादी का आसन छोड़कर सत्य के मिलन-मन्दिर में समवेत क्यों न होंगे ? वास्तव में सत्य सर्वतोमुख है, सत्य को भिन्न-भिन्न दिशाओं से देखा जाता है। सभी वादियों को इसका स्मरण रखना चाहिए। इस क्षेत्र में जो स्व-मत का प्रवदन करते हैं, जो नान्यदस्ति-वादी हैं, वे अवश्य ही अविपश्चित् हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

३—प्राचीन युग में समन्वय की चेष्टा

यह भी ध्यान देने का विषय है कि जिन प्राचीन दर्शन सूत्रों के सहारे हमने वाद-विवाद की परिखा खोदी है उन सूत्र-ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर यह समन्वय का भाव साफ़ साफ देख पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सूत्र ग्रन्थों के वर्तमान आकार में निबद्ध होने से पहले भी इस देश के दार्शनिक समाज में दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्यों को लेकर यथेष्ट मतभेद था। बादरायण के ब्रह्मसूत्र की (जिनके साथ अन्यान्य दर्शनों की अपेक्षा हमारा थोड़ा-बहुत घनिष्ट परिचय है) आलोचना में हम देखते हैं कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने अपने पूर्ववर्ती या समीपवर्ती दार्शनिकों के मतवाद का न केवल उल्लेख किया है, बल्कि स्थान स्थान पर उनका समन्वय भी किया है। ब्रह्मसूत्र में जिन वेदान्ताचार्यों का नामोल्लेख देखा जाता है, यथा—आश्मरथ्य, औडुलोमि, काष्र्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि और बादरि—उनके मत का कथन बादरायण ने आदर के साथ किया है और कई स्थानों पर उनके विरोधी मत का सामञ्जस्य-विधान किया है। अब हम दृष्टान्त के द्वारा इस

को प्रतिपन्न करते हैं। ब्रह्मसूत्र के पाठक जानते हैं कि चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद मे बादरायण ने मुक्त जीव के स्वरूप और ऐश्वर्य का विचार किया है। छान्दोग्य श्रुति में उपदेश है—

एप सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते।

वह जीव इस शरीर से उत्थित होकर, परज्योति को प्राप्त होकर, स्व-स्वरूप में अभिनिष्पन्न होता है।

बादरायण ने सूत्र बनाया है कि इस श्रुति से मुक्त जीव की अवस्था लक्षित हुई है—

सम्पद्याविर्भाव स्वेन शब्दात्।
मुक्त प्रतिज्ञानात्—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१-२

मुक्त जीव आत्मा के साथ मिलित होकर स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है—उसका जो स्वरूप है, तब, उसी का आविर्भाव होता है।

अविभागेन दृष्टत्वात्।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।४

उस अवस्था मे जीव का आत्मा के साथ अविभाग (अभेद) होता है। अर्थात् उस समय जीव में और आत्मा में कोई भेद नहीं रह जाता।

'जीव स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है।' यह स्वरूप किस प्रकार का है? बादरायण ने इसके बाद उसी का विचार किया है। वे कहते हैं कि जैमिनि के मत से यह ब्राह्मरूप है और औडुलोमि के मत से यह चिन्मात्र है।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्य।
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वाद् इति औडुलोमि।

—ब्रह्मसूत्र, ४।४।५-६

स्वम् अस्य रूपम् आक्षम् अपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वावसानम् तथा सर्वज्ञत्वम् सर्वेश्वरत्वञ्च तेन स्वरूपेणाभिनिस्पद्यते इति जैमिनिराचार्यो मन्यते × × चैतन्यमेव तु तस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता × × तस्मात् निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाभिनिस्पद्यत इति औडुलोमिराचार्यो मन्यते ।—शङ्करभाष्य।

अर्थात् आचार्य जैमिनि कहते हैं कि मुक्त ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ब्रह्म निष्पाप, सत्यसकल्प, सत्यकाम, सर्वेश्वर और सर्वज्ञ है। मुक्त भी ऐसा ही हो जाता है। औडुलोमि आचार्य कहते हैं कि चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। अतएव मुक्त का स्वरूप चिन्मात्र ही होना चाहिए। × × इस लिए मोक्ष में सारे प्रपञ्च तिरोहित होकर जीव बिलकुल प्रसन्न और अचिन्त्य चैतन्य रूप में अवस्थित होता है।

इन दोनो मतों का सामजस्य करके बादरायण कहते हैं—

एवमुपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।

—ब्रह्मसूत्र, ४।४।७

आत्मा चिन्मात्र होने पर भी उसके ब्रह्मरूप हो जाने में कुछ विरोध नहीं है, क्योंकि मुक्त के ब्राह्म ऐश्वर्य का शास्त्र मे उपदेश है।

श्रुति ने भी कहा है कि मुक्त को सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है, वह कामचार हो जाता है, वह स्वराट् हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम् × × तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। × × सकल्पादेवास्य पितर. समुत्तिष्ठन्ति × × सर्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति।

वह स्वराट् हो जाता है। सब लोकों में वह इच्छानुसार जा सकता है। उसके सकल्पमात्र से पितृगण आ जाते हैं। सब देवता लोग उसके लिए बलि ले आते हैं।

इसका समर्थन करके बादरायण कहते हैं कि मुक्त का जो ऐश्वर्य है वह सकल्प-मात्र से प्राप्त हो जाता है।

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुते ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।८

अतएव वह अनन्याधिपति (स्वराट्) होता है।

अत एव च'अनन्याधिपति ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।६

इस अवस्था में उसका शरीर रहता है या नहीं ? बादरि कहते हैं कि नहीं रहता, जैमिनि उसका रहना बतलाते हैं। बादरायण दोनो मतो का सामजस्य करके कहते हैं कि शरीर का रहना न रहना मुक्त की इच्छा के अधीन है। यदि शरीर रहता है तो जाग्रत की भाँति भोग होता है, और यदि शरीर नहीं रहता तो स्वप्न की तरह भोग होता है।

अभाव बादरिराह ह्येवम् । भाव जैमिनिर्विकल्पामननात् । द्वादशाहवत् उभयविधं बादरायणोऽत. । तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्ते । भावे जाग्रद्वत् ।—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१०-१४

मुक्त लोग इच्छाधीन कायव्यूह की रचना कर सकते हैं और उन देहो में अनुप्रवेश कर सकते हैं।

प्रदीपवद् आवेशस्तथा हि दर्शयति ।

—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१९

इसी से श्रुति ने कहा है—

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा ।

वह एक होता है, वह तीन होता है, पाँच होता और सात होता है।

यह दिग्दर्शन मात्र है। जीव की उत्क्रान्ति और ब्रह्मलोक मे उन्नति तथा जीव-ब्रह्म के भेदाभेद-सम्बन्ध मे भी, ब्रह्मसूत्र में, विरोधी मत के सामजस्य-विधान की चेष्टा देख पड़ती है।

किन्तु विरोधी मत-वाद के समन्वय-साधन का बहुत ही बढ़िया उदाहरण है भगवद्गीता। इस सम्बन्ध में हमने अन्य स्थान पर इस प्रकार लिखा है—"गीता की आलोचना करने से जान पड़ता है कि

गीता-प्रचार के समय भारतवर्ष में मोक्ष-प्राप्ति के लिए चार विभि मार्गों का प्रचार था। उन चारों मार्गों का नाम क्रम से—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग और भक्तिमार्ग था। जो जिस मार्ग पर चलता था वह उसी को साधनमार्ग का एकमात्र पन्थ समझता था, उसकी दृष्टि में दूसरा मार्ग था ही नहीं। भगवान् ने गीता का प्रचार करके उन विभिन्न साधन-मार्गों का अपूर्व समन्वय किया है। उसके फल-स्वरूप देख पड़ता है कि जिस प्रकार प्रयाग में गङ्गा, यमुना और सरस्वती पुण्य-सङ्गम मे मिलित होकर, पतित-पावनी धारा बहाकर, देश को प्लावित करती हुई समुद्र की ओर बही हैं उसी प्रकार गीता में कर्म, ज्ञान, ध्यान और भक्तिरूप चारों मार्ग अपूर्व समन्वय में समन्वित होकर जगत् को पवित्र करके भगवान् की ओर प्रवाहित हुए हैं। यही समन्वय-वाद गीता की अपनी वस्तु है—शास्त्र में और कहीं पर ऐसे उज्ज्वल रूप में इसका उपदेश नहीं देख पडता। अतएव कर्म, ज्ञान, भक्ति और ध्यान के समन्वय का उपदेश देकर गीता ने दिखाया है कि जीव के सम्पूर्ण विकास के लिए केवल कर्म, केवल ज्ञान, केवल भक्ति और केवल ध्यान यथेष्ट नहीं है, जीव को ब्रह्म मे विकसित करना हो तो इन चारों मार्गों को ही पूर्ण रूप से आयत्त करना चाहिए। ऐसा न करने से आत्मा का आंशिक, एकदेशिक विकासमात्र होगा। इसी से गीता ने कर्मवाद, ज्ञान-वाद, भक्ति-वाद और ध्यान-वाद का मेल बैठाकर इस अपूर्व समन्वयवाद का उपदेश दिया है।"

न केवल साधना के सम्बन्ध में ही, बल्कि दार्शनिक वाद-विवाद के सम्बन्ध में भी गीता में यह समन्वय का भाव बहुत ही उज्ज्वल है। इसके फलस्वरूप सांख्य और वेदान्त, द्वैत और अद्वैत, विवर्त्त और परिणाम—सत्यदृष्टि की मिलन-भूमि में समन्वित होकर गीतारूप कल्पवृक्ष में परिणत हुए हैं। किन्तु इस विषय की विस्तृत आलोचना का क्षेत्र यह अभिभाषण नहीं है। यहाँ पर इतना ही कहना है कि हम यदि

इस समन्वय के भाव से भावित होकर सत्य को खोजने लगें तो सहज में ही जल्प-वितण्डा का कण्टकित क्षेत्र दूर हो जाय और हम सामञ्जस्य की ऊँची चोटी पर चढ़ सकें।

४—बुद्धि और बोध

हमें स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वदर्शन का कारण बुद्धि नहीं—बोधि है। मार्जित बुद्धि द्वारा तर्कविचार निष्पन्न होता है, किन्तु बिना बोधि के तत्व से भेट नहीं होती। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध फरासीसी दार्शनिक बर्गसन ने कुछ उपादेय बातें कही हैं—वे हमारे ध्यान देने योग्य हैं—

"Intuition and intellect represent two opposite directions of the work of consciousness. Intuition goes in the very direction of life, intellect in the opposite direction * * Intellect is characterised by a natural inability to know life. Instinct is sympathy and turned towards life."

इसी बात को फैलाकर उनके शिष्य विल्डन कार कहते हैं—

"What then is the intellect? It is to the mind what the eye or the ear is to the body Just as in the course af evolution the body has become endowed with certain special sense-organs which enable it to receive the revelation of the reality without, and at the same time limit the extent and the form of that revelation, so the intellect is a special adaptation of the mind, which enables the being endowed with it to view the reality outside it, but which at the same time

limits both the extent and character of the view the mind takes"

इससे स्पष्ट हो गया कि तत्त्व से भेंट करने के लिए बुद्धि पर्याप्त नहीं है। इसी लिए पाश्चात्य दार्शनिकों ने कहना आरम्भ कर दिया है—

"Cease to indentify your intellect and your Self. Become at least aware of the larger truer Self, that free creative Self which constitutes your life as distinguished from the scrap of consciousness which is its servant * * * Smothered in daily life by the fretful activities of our surface-mind, reality emerges in our great moments, and seeing ourselves in its radiance, we know, for good or evil, what we are. We are not pure intellects, * * Around our conceptional and logical thought, there remains a vague, nebulous some what, the substance at whose expense the luminous nucleus we call the intellect is farmed."

—Underhill's Mysticism pp. 38-9

अर्थात् बुद्धि संवित् का सर्वस्व नहीं—एक भग्न अंश मात्र है। बोधि उसके ऊपर है। इस बोधि को लक्ष्य करके जर्मन दार्शनिक यूकेन ने कहा है—

"There is a definite transcendental principle in man."

यही बोधि है। उन्होंने इसका नाम रक्खा है—Gemuth

"It is the core of personality. There God and man initially meet"

उपनिषद् ने जिसका नाम 'गुहा,' 'हृदय,' 'दहर' रक्खा है क्या उसी की छाया Gemuth है ?

यह बुद्धि का कोलाहल रुके बिना बोधि की वाणी श्रुतिगोचर नहीं होती। इसी से उपनिषद् ने कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

इसी आशय की बात जेकब बोह्म ने कही है—

"When both the intellect and will are quiet and passive * * then the eternal hearing seeing and speaking will be revealed in thee"

सभ्यता के इतिहास की छान-बीन करने से देख पड़ता है कि जाति के जीवन में दो युग पर्याय क्रम से क्रीडा करते हैं, एक होता है बोधि का युग और दूसरा होता है बुद्धि का युग। बोधि के युग में तत्त्व का साक्षात्कार होता है, सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं और बुद्धि के युग में तत्त्व का विचार होता है। बोधि का युग ऋषि का युग है और बुद्धि का युग भाष्यकार का युग है। इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य पण्डित ने कई सुन्दर बातें कही हैं—

Civilisation, like everything else in the world, is subject to unceasing alternation, and two phases stand out clearly all through its history, ever replacing and succeeding each other In the one, the positive phase, civilisation creates, in the other, the negative phase, it reproduces and copies. In the first phase it is in touch with realities which furnish the everflowing source of

new invention and inspiration,, in the second it has lost touch with the realities themselves and bases itself on descriptions of realities,—on tradition, books, ancient authorities; it copies, explains, comments and follows.*

भारतवर्ष मे बोधि के युग का ऋषियो के साथ अन्तर्धान होने पर तर्कयुग आरम्भ हो गया था, उस युग का अब तक अन्त नहीं हुआ है। भाष्य, वार्त्तिक, टीका, निबन्ध और अनुबन्ध इत्यादि इसी युग की कीर्ति है। बुद्धि के द्वारा तत्त्व का जहाँ तक निर्णय हो सकता है उसमे इन लोगों ने रत्ती भर भी कसर नहीं रक्खी है। कावेल साहब कहते हैं कि इन ग्रन्थों में प्रवेश करने की चेष्टा मे पाश्चात्य मस्तिष्क चक्कर खा जाता है—makes the European head dizzy. पाश्चात्य ही क्यों, ऐसे प्राच्य भी कम हैं जो बेरोकटोक इस पैनी बुद्धि से प्रवेश योग्य तर्कारण्य में प्रवेश करके, मस्तिष्क को ज्यों का त्यों रक्खे हुए वापस आ सकें।

प्राचीन दर्शन में भी परवाद है, इसे हम अस्वीकार नहीं करते। ब्रह्मसूत्र का दूसरा अध्याय इसका यथेष्ट उदाहरण है। पञ्चशिखाचार्य का षष्ठितन्त्र (ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका जिसका आर्या-श्लोक-निबद्ध सग्रह-ग्रन्थ है) भी परवाद-विवर्जित न था। हम यह भी मानते हैं कि—

केवल शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

फिर भी जान पडता है कि वाद और वितण्डा एक वस्तु नहीं हैं। और याद आता है—

* M Van Menon in the Commonweal

नैषा तर्केण मतिरापनेया।

और याद पड़ता है बादरायण का सूत्र—

तर्काप्रतिष्ठानाद्।—ब्रह्मसूत्र, २।१।११

इसके भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने लिखा है—

बुद्धि का अवलम्बन करके मनुष्य जो तर्क उठाता है वह कुछ तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। क्योंकि एक बुद्धिमान् जिस तर्क का अनुमोदन करता है उसका निरास दूसरा बुद्धिमान् कर देता है। फिर उसके तर्क का खण्डन तीसरा बुद्धिमान् कर देता है। अतएव तर्क का अन्त ही कहाँ है? शङ्कराचार्य तीसरे बुद्धिमान् पर आकर ही रुक गये हैं, किन्तु यदि तीसरे के बाद चौथा हो, चौथे के बाद पाँचवाँ, उसके बाद छठा, सातवा, आठवाँ इत्यादि बीजगणित के "N" तक हो तो फिर तर्क का पर्यवसान कहाँ जाकर होगा? हमारे देश में तर्कयुग में यही तो हुआ था।

किसी ने दूसरे विधाता की तरह 'वेदान्त-मार्तण्ड' की रचना करके 'सूर्य की परिधि से मानों नेत्रों को चौंधिया दिया'। प्रतिपक्ष ने तुरन्त ही उस सूर्य के ऊपर बडा भारी मेघ ला पटका, अर्थात् 'उसी समय आकाश में बादल छा गया।' बस, विपक्ष पक्ष ने प्रचण्ड 'तर्क भञ्जन' उत्पन्न कर दिया। मेघ और वायु के बीच खासा युद्ध छिड गया, विमानचारी देवगण विस्मित दृष्टि से देखने लगे।

कहीं पर हमारी मानस-रसना की परितृप्ति के लिए प्रचुर 'खण्डन-खाद्य' बनाया गया, किन्तु खण्डन न रहने से उसकी शर्करा कर्कराने लगी। किसी ने हमारी नासिका को पुलकित करने के लिए 'वेदान्त-परिजात' को विकसित किया, किन्तु वह—

"अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति न.।"

किसी ने "शतदूषणी" बनाकर मायावाद के टुकडे टुकडे कर डालने का उपक्रम किया। प्रतिपक्ष ने उसी दम 'शतदूषणीखण्डन' का

प्रचार किया। किन्तु दूषण-कर्त्ता क्यों चुप होने लगे, क्योंकि मौन तो मुनि का भूषण है, तार्किक को नहीं। इस प्रकार खण्डन-मण्डन के सन्धान में तर्कस्थल कण्टकित हो उठा। तब प्रतिपक्ष ने 'वेदान्त-डिण्डिम' बजाकर विवादी को सम्मुख-समर में ललकारा। बस, विवादी ने रणमुख में आकर वादी की प्रशान्त कनपटी में विपुल दार्शनिक 'चपेटाघात' करके सकुल युद्धनीति का प्रदर्शन किया। फलस्वरूप वितण्डाक्षेत्र 'क्षेत्र क्षत्रप्रधन पिशुन' में परिणत हो गया और उसने तार्किक पुंगवों के रक्त से रञ्जित होकर 'रन्तिदेवस्य कीर्तिम्' को पराजित कर दिया।

हमारी धारणा है कि यदि हमें आर्य-सत्य का पुनराविष्कार करना है तो हमें गौतम बुद्ध की भाँति फिर 'बोधि' द्रुम के नीचे ध्यान-मग्न होना चाहिए; यदि हमें तत्त्वमसि महावाक्य की उपलब्धि करने की इच्छा है तो श्वेतकेतु की तरह हमें फिर न्यग्रोध फल लाकर गुरु के चरणों के समीप बैठना चाहिए और मौनी होकर कहना चाहिए—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

वितण्डाराज्य का राजदण्ड दिखाकर तर्क हमें लुभावेगा, किन्तु मसीह की भाषा में हमें कहना चाहिए—

Who reads
Incessantly and to his reading brings not
A spirit and judgment equal or superior,
(And what he brings what needs he elsewhere seek ?)
Uncertain and unsettled still remains,
Deep-versed in books and shallow in himself,
Crude or intoxicate, collecting toys

And trifles for choice matters, worth a sponge,
As children gathering pebbles on the shore.
—Paradise Regained Book IV

जान पडता है कि अब वह दिन आ गया है जब वितण्डा को छोड-छाडकर हमें सिद्धान्त की ओर ध्यान देना होगा। अभेद में भेद न देखकर भेद में अभेद दृष्टि करनी होगी। और हमे कहना होगा कि सत्य एक है, तत्त्व एक है, केवल वादी के दर्शन-भेद से वह अनेक है, भिन्न रूप का है।

५—भेद में अभेद

एक उदाहरण देने से यह बात तनिक विशद हो सकती है। सभी जानते हैं कि इस देश के दार्शनिक समाज में जीव के स्वरूप-सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद है। जीव अणु है या विभु ? जीव ब्रह्म का अश है या छाया ? जीव ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यह दर्शन की एक मूल समस्या है। इसकी विचार-वितण्डा मे एक मन्वतर बिताया जा सकता है और मैनाक को लेखनी बनाकर, समुद्र के पानी का स्याही की भाँति उपयोग करके, खाली किया जा सकता है। फिर भी तर्क से इसका निर्णय नही होता, किन्तु भेद में अभेद दृष्टि करने से हो जाता है।

जिन्हे वेद का महावाक्य कहते हैं उन चारों महावाक्यो ने जीव-ब्रह्म की एकता का उपदेश दिया है। "तत्त्वमसि", "सोऽहं", "अयमात्मा ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि"—चारो वेदों के ये चारों महावाक्य ब्रह्म के और जीव के अभेद का उपदेश देते हैं। किन्तु अन्य स्थान मे हमने सुना है—

यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गा सहस्रश· प्रभवन्ते सरूपा ।
तथाक्षरात् विविधा· सोम्य भावा· प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

—मुण्डक, २।१।१

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका. सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ॥—बृह० २।१।१०

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।—गीता

ब्रह्मसूत्र का भी वचन है—

अंशो नानाव्यपदेशात् इत्यादि ।—२।३।४३

और गीता भी कहती है—

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥

उपनिषद् ने अन्य स्थान में और भी कहा है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूतेऽव्यवस्थित. ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥—ब्रह्मविन्दु, १२।

एक ही (अद्वितीय) भूतात्मा भूत भूत में अवस्थित है। पानी मे चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह वह एक रूप में और बहुत रूपों में देख पड़ता है। इस आभास अथवा प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करके बादरायण ने सूत्र बनाया है—

आभास एव च ।—२।३।५० सूत्र ।

उन्होंने अन्यत्र कहा है—

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।—३।२।१८ सूत्र ।

अतएव उपनिषद् में हमें तीन विरोधी मतों का वर्णन देख पड़ता है—(१) जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, (२) जीव ब्रह्म का अंश या स्फुलिङ्ग है, (३) जीव ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब है। जिस उपनिषद् ने कहा है कि जीव विभु है—

स वा एष महान् अज आत्मा ।
आकाशवद् सर्वगतश्च नित्यः ॥

'यह आत्मा (जीव) महान् और जन्मरहित है। वह आकाश की भाँति सर्वगत और नित्य है'—उसी उपनिषद् का अन्यत्र कहना है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

अर्थात् 'केश के अगले भाग के सौवें भाग का सौवाँ भाग जीव का परिमाण है।'

इन विरोधी श्रुति-वाक्यों पर निर्भर होकर दार्शनिक समाज में बहुत वाद-विवाद का उठ खड़ा होना कुछ विचित्र नहीं है। किन्तु समन्वय-दृष्टि से देखने पर इसका सामञ्जस्य-विधान असम्भव नहीं है। यह समन्वय-भूमि हमें गीता ग्रन्थ में सुप्रतिष्ठित देख पड़ती है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

उत्तम• पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित• पुरुषोत्तम•॥

—गीता, १५।१६—१८

लोक में दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। समस्त भूत क्षर पुरुष है और कूटस्थ अक्षर पुरुष है। और एक पुरुषोत्तम है, जिसे परमात्मा कहते हैं, वह अव्यय ईश्वर लोकत्रय में अनुप्रविष्ट होकर उसे धारण करता है। क्योंकि वह क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम है, इसी से लोक में और वेद में उसे पुरुषोत्तम कहते हैं।

इस त्रिपुरुष-तत्त्व की सहायता से गीता ने हमें जिस मीमांसा स्थान में पहुँचाया है उसकी ओर तनिक ध्यान देना चाहिए।

ऊपर उद्धृत श्लोक मे हमको मालूम हुआ है कि गीता के मत से तीन पुरुष हैं—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष। उत्तम पुरुष=परमात्मा, अक्षर पुरुष=अध्यात्मा और क्षर पुरुष=जीवात्मा। उत्तम पुरुष को शास्त्र मे चिदाकाश कहते हैं; अक्षर पुरुष=चिन्मात्र, जिसे कूटस्थ कहते हैं; और क्षर पुरुष=चिदाभास। चिदाकाश सिन्धु है और चिन्मात्र मानों विन्दु है। यही विस्फुलिंगवाद है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। किन्तु सिन्धु और विन्दु में स्वरूपतः कुछ भेद नहीं रह सकता, अंश और अंशी तत्त्वतः अभिन्न हैं। इसी से जीव, ब्रह्म को लक्ष्य करके, कह सकता है कि "सोऽहं" "अहं ब्रह्मास्मि"। इसी से जीव को लक्ष्य करके कहा जा सकता है—"अयमात्मा ब्रह्म," "तत्त्वमसि"। इस अध्यात्मा अथवा चिन्मात्र की ओर लक्ष्य करके उपनिषद् ने कहा है—

अथ यदिदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन् अन्तर् आकाशः। तस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यं तद् विजिज्ञासितव्यम्।

—छान्दोग्य, ८।१।१

इस ब्रह्मपुर (देह) में क्षुद्र पुण्डरीक रूप एक घर है; वहाँ छोटा सा अन्तर आकाश है। उसके जो अन्तर्गत है उसका अन्वेषण करना, उसका अनुसन्धान करना चाहिए।

यह अन्तर आकाश क्या है? शङ्कराचार्य कहते हैं कि यह आकाश ही ब्रह्म है। वेदान्त की परिभाषा मे हृदयस्थ आत्मा का नाम दहराकाश है। उपनिषद् ही साफ साफ कह रहा है कि वहीं आकाश आत्मा है—

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः
विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।

—छा० ८।१।५

यह आत्मा ही पापहीन, जराहीन, मृत्युहीन, क्षुधा-तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है।

उपाधि की सूक्ष्मता को उपलक्ष्य करके इस आत्मा को अणु कहा जाता है—

अणुरेष आत्मा ।

इसी को लक्ष्य करके कहा गया है—

अणोरणीयान् ।

'वह अणु से भी अणु है ।' और 'महान् से भी महान् है'—

महतो महीयान् ।

क्योंकि जो आत्मा दहर-पुण्डरीक में विराजित है वही जगत् मे सर्वत्र अनुस्यूत है । इसी से छान्दोग्य उपनिषद् ने कहा है—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोन्तर्हृदय आकाश. । उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् इति ।—छा० ८।१।३

वह अन्तर्हृदय का आकाश, इस आकाश की तरह बृहत् है । उसमें स्वर्ग, मर्त्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र—जो कुछ है, जो कुछ नहीं है, सभी उसके अन्तर्गत है ।

श्रुति ने अन्यत्र भी यह उपदेश दिया है कि ब्रह्म, आत्मारूप में, हृदय मे मौजूद है—

कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमय. प्राणेषु हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।

—बृहदारण्यक ।

'आत्मा कौन है ?' इसका उत्तर देते हैं—'वही चिन्मय अन्तर्ज्योति पुरुष जो कि प्राणों में हृदय में विराजमान है ।'

इसी चिन्मात्र को लक्ष्य करके गीता ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।—गीता, १०।२०

भगवान् आत्मारूप से सब भूतों के आशय मे स्थित हैं ।

जिस प्रकार ज्योतिर्मय सूर्य का शीशे में पडा प्रतिबिम्ब, अन्य स्वच्छ पदार्थ मे प्रतिफलित होकर आभा फैलाता है, लेकिन वह आभा न तो सूर्य है और न सूर्य का प्रतिबिम्ब ही, उसी प्रकार हृदय में स्थित (गुहाहित) आत्मा बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है। इसी को लक्ष्य करके बादरायण ने सूत्र बनाया है—

आभास एव च।—ब्रह्मसूत्र, २।३।५०

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्।—ब्रह्मसूत्र, ३।२।१८

अर्थात् जल में जिस तरह सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है उसी तरह बुद्धि में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पडता है; वह प्रतिबिम्ब ही जीव है।

इसको लक्ष्य करके उपनिषद् ने कहा है—'जलचन्द्रवत्' इस चिन्मात्र और चिदाभास, इस बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद को लक्ष्य करके मुण्डक उपनिषद् रूपक की भाषा में कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य· पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमान·।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमान इति वीतशोक॥

दो सुन्दर पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। वे आपस में एक दूसरे के सखा हैं। उनमें से एक तो अच्छे स्वादिष्ट फल को खाता है, और दूसरा खाता नहीं, सिर्फ देखता है। एक ही वृक्ष पर एक (जीव) निमग्न होकर, ईश्वर भाव के अभाव में, मोहाच्छन्न होकर शोक करता है, किन्तु जब वह दूसरे (ईश्वर) को देख पाता है तब वह उसकी महिमा का अनुभव करके शोक के पार पहुँच जाता है।

इस चिन्मात्र और चिदाभास के भेद को ध्यान में रखकर बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में कहा है—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात्।—२।१।२२ सूत्र।

अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैव तद्दर्शनात्।—३।४।८ सूत्र।

अधिकस्तावत् शारीराद् आत्मनोऽसंसारी ईश्वर. कर्तृत्वादिसंसारिधर्म-रहितोऽपहतपाप्मत्वादि विशेषणः परमात्मा वेद्यत्वे नोपदिश्यते वेदान्तेषु। × × तथाहि तमधिक शारीराद् ईश्वरम् आत्मानम् दर्शयन्ति श्रुतयः। —शङ्करभाष्य।

जीव (देही आत्मा) की अपेक्षा ईश्वर (परमात्मा) अधिक है। क्योंकि वेदान्तवाक्य ने उसे असंसारी, कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहित, अपहतपाप्मा प्रभृति विशेषणों से विशेषित करके वेद्य होने का उपदेश दिया है। श्रुति ने ईश्वर को जीव से अधिक दिखाया है।

फिर भी देहस्थ आत्मा परमात्मा के साथ अभिन्न है।

इसी अर्थ में गीता का वचन है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः पर.॥—गीता, १३।२२

इस देह में परम पुरुष परमात्मा महेश्वर विराजमान है, वही साक्षी अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥—गीता, १३।३१

वह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण है, इसलिए देहस्थ होकर भी वह निष्क्रिय और निर्लेप है। उससे चिदाभास या जीवात्मा के मुख मे "सोऽहम," "तत्त्वमसि" वाक्य बहुत अशोभन होने पर भी कूटस्थ या चिन्मात्र के पक्ष में यह उपदेश पूरा पूरा उपयोगी है। क्योंकि जो गुहाहित, गह्वरेष्ठ और पुण्डरीकाधिष्ठित है वह परमात्मा से अभिन्न है। इसलिए बादरायण ने सूत्र बनाया है—

अभ्युपगमात् हृदि हि।—२।३।२५
दहर उत्तरेभ्य।—१।३।१४

प्रत्येक मनुष्य को एक न एक व्यसन रहता है, जिसे हम अब 'hobby' कहते हैं। हमारा व्यसन 'गीता' है। इस व्यसन

मे आरूढ़ हो जाने पर कुछ ठिकाना नहीं कि हम किस वाग मे पहुँचेंगे। अतएव यहीं पर सक्षेप मे दो-चार उपयोगी बातों की चर्चा करते हैं।

६—दर्शनालोचना का प्रकार और प्रणाली

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि हमारे देश मे आजकल जिस रूप मे दर्शन की आलोचना होती है वह सन्तोषजनक नहीं है। एक पक्ष म प्राच्य दर्शन की आलोचना का सोता विशेष रूप से मन्द हो गया है। वासुदेव, रघुनाथ, मथुरानाथ, जगदीश, गदाधर और मधुसूदन सरस्वती के वशधर लोग दर्शन की आद्य, मध्य और अन्त्य परीक्षा की पल्लवग्राहिता से सन्तुष्ट हो रहे हैं। गम्भीर भाव से, आन्तरिक भाव से कितने पण्डित दर्शन के ध्यान मे निमग्न हैं? हम विक्रमपुर, भट्टपल्ली और नवद्वीप प्रभृति स्थानों मे दुबारा 'बूनो' रामनाथ का आविर्भाव देखना चाहते हैं।

अन्य पक्ष मे विश्वविद्यालय के उपाधिधारियों मे पाश्चात्य दर्शन की आलोचना भी आशानुरूप नहीं हो रही है। स्वाधीन भाव से चिन्तन और सफल गवेषणा का परिचय कम मिल रहा है। प्रायः सभी जगह चर्वितचर्वण और वान्त का निगिरण है। इनका दायित्व किस पर है? प्रधानतया हमारी उदासीनता और अकर्मण्यता पर। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा-प्रणाली का रत्ती भर भी दोष नहीं है। पेड़ की डालें काट कर ऊसर धरती मे गाड़ देने से, सरकार के द्वारा सिचाई कराने पर भी, उसके द्वारा सजीव वृक्ष को परिणत करना दुर्घट है।

इस देश मे पाश्चात्य शिक्षा की प्रायः यही दशा हो रही है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्राचीन भारत के इतिवृत्तलेखक स्वनामख्यात विन्सेंट स्मिथ महोदय ने इस सम्बन्ध मे कुछ सारगर्भ बातें कही हैं। वे हमारे ध्यान देने योग्य हैं—

"The Indian Universities suffer from the want of root They are mere cuttings struck down in an uncongenial soil and kept alive with difficulty by the constant watering of a paternal Government"

भारतीय विश्वविद्यालयों मे किस तरीके से दर्शन का पठन-पाठन होना चाहिए, इस सम्बन्ध मे भी विन्सेंट स्मिथ महोदय ने कई अमूल्य वाक्य कहे हैं—

"When an Indian student is bidden to study Philosophy, he should not be forced to try and accommodate his mind to the unfamiliar forms of European speculation, but should be encouraged to work on the lines laid down by the great thinkers of his own country, who may justly claim equality with Plato Aristotle and Kant The lectures and examinations in Philosophy for the students of an Indian University should be primarily on Indian Ethics and Metaphysics, the European systems being taught only for the sake of contrast and illustration So far as I know, the courses prescribed by the Indian Universities are not on these lines"

* * *

"It is useless to ask an Indian University to reform itself, because it does not possess the power Some day, perhaps, the men in power

will arise who is not hidebound by the University traditions of his youth, who will perceive that an Indian University deserving of the name must devote itself to the development of Indian thought and learning and who will care enough for true higher education to establish a real University in India."

हम ऐसे शक्तिधर महापुरुष के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिनके आगमन से भारतवर्ष में प्रकृत जातीय विश्वविद्यालय प्रतिष्ठित होगा और जो भारतवासियों की स्थगित भावधारा तथा चिन्तनस्रोत को फिर गति प्रदान करेंगे। जब तक उस शुभ दिन का उदय नहीं होता है तब तक हमें उस महापुरुष के भावी कार्यक्षेत्र को सुबीज धारण करने योग्य बनाना चाहिए।

७—परिभाषा-संकलन

दर्शन क्षेत्र में हमारा एक प्रधान कार्य दार्शनिक परिभाषाओं का संकलन करना है। जो लोग पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव से अपने दर्शन-साहित्य को परिपुष्ट करने का यत्न करते हैं उन्हें अपने यहां दार्शनिक परिभाषाएँ न रहने से, बहुत हैरान होना पड़ता है। इस सम्बन्ध में, बङ्गीय साहित्य परिषद् ने कई वर्ष पहले कुछ चेष्टा की थी, किन्तु वह चेष्टा फलवती नहीं हुई। उसका प्रधान कारण यह है कि दार्शनिक साहित्य की रचना हुए बिना दर्शन की परिभाषाओं को निश्चित कर डालना असम्भव है। जब तक देशी भाषाओं की सहायता से पाश्चात्य दर्शन का पठन-पाठन न किया जायगा तब तक प्रकृत दार्शनिक परिभाषाओं के संकलित होने की सम्भावना बहुत ही कम है। सजीव दर्शन-चर्चा देश में प्रचलित हो जाय तो भिन्न भिन्न लेखक एक ही

दार्शनिक तत्त्व को समझाने के लिए विभिन्न परिभाषाओं का प्रयोग करेंगे। उन शब्दों में जो योग्यतम होंगे वही रह जायँगे। साथ ही साथ हमे बहुत परिश्रम और समय लगाकर, संस्कृत दर्शनशास्त्र में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों की सूची बना लेनी चाहिए। यह काम एक मनुष्य का नहीं है, बिना संयुक्त चेष्टा किये और यथेष्ट समय लगायें इस कार्य में सफलता नहीं हो सकती। हमें भूल न जाना चाहिए कि इस देश में बहुत युगों से शिक्षित समाज में नाना दार्शनिक आलोचनाओं का प्रचलन था। बिना मुद्रा के जिस प्रकार वाणिज्य होना दुष्कर है उसी प्रकार बिना परिभाषाओं के दर्शन चर्चा भी असम्भव है। इसी लिए इस देश के प्राचीन दार्शनिक साहित्य की अवनति हो रही है। इस सम्बन्ध में विगत राजशाही-सम्मेलन के सभापति श्रीयुत प्रमथनाथ चौधरी जी ने, बङ्ग-साहित्य में अँगरेज़ी युग के सूत्र-पात के सिलसिले में, जो सारगर्भित बातें कही थीं वे यहाँ उद्धृत की जाती हैं—'संस्कृत साहित्य के प्रभाव से छुटकारा पाकर बङ्ग-साहित्य अँगरेज़ी साहित्य के बिलकुल अधीन हो गया। फलस्वरूप बङ्ग-साहित्य अपने स्वाभाविक विकास के सुयोग को फिर खो बैठा। इन अँगरेज़ी-नवीस लेखकों के पाले पड़ने से बङ्ग-भाषा ने एक नई मूर्ति धारण कर ली।

'संस्कृत-मिश्रित भाषाशैली जिस प्रकार, पण्डितों के मत से, साधुभाषा समझी जाती थी उसी प्रकार अँगरेज़ी का बात बात में प्रयोग, शिक्षित सम्प्रदाय के लिए साधुभाषा मान लिया गया। इसके फलस्वरूप ऐसे बहुत से शब्दों की सृष्टि हुई जो न तो बङ्गालियों के मुँह में ही हैं और न संस्कृत कोशों में ही हैं, और वे नवप्रचलित पद ही अब बङ्ग-साहित्य की मुख्य पूँजी है।'

दुख के साथ कहना पड़ता है कि इन नये शब्दों के गढ़ने की तनिक भी आवश्यकता नहीं थी।

संस्कृत के दर्शन, विज्ञान, काव्य और अलङ्कार मे यथेष्ट शब्द हैं जिनकी सहायता से हम अपने नवशिक्षालब्ध मनोभावो को, अपनी जाति और प्रकृति की रक्षा करके, आसानी से व्यक्त कर सकते हैं। यह बिलकुल सच बात है। सचमुच में संस्कृत भाषा दर्शन-परिभाषा-सम्पत्ति से बहुत ही समृद्ध है। और हम उसी खान के रत्नों की खोज न करके मन गढ़न्त किम्भूत किमाकार शब्दों का प्रयोग करते हैं। जर्मन दर्शन से हमने Subject, Object, Noumenon, Phenomenon शब्दों का प्रयोग करना सीखा है। किन्तु जर्मन दर्शन का अभ्युदय होने के बहुत पहले से ही द्रष्टा दृश्य, विषय विषयी, विवर्त और परमार्थ प्रभृति शब्द प्रचलित थे। आजकल बर्गसन की आलोचना मे हमने Intellect और Intuition का प्रभेद समझना आरम्भ कर दिया है। किन्तु बुद्धि और बोधि का प्रभेद इस देश मे बहुत प्राचीन है। मनोविज्ञान की आलोचना मे हमें Motor nerves और Sensory nerves के भेद की सूचना देनी पड़ती है। किन्तु आज्ञा-नाड़ी और संज्ञा-नाड़ी का प्रभेद मालूम हो तो इसके लिए परिभाषा पढ़ने के व्यर्थ श्रम की आवश्यकता नहीं रहती। पाश्चात्य विज्ञान की चर्चा मे हम अवरोहण प्रणाली के व्याप्तिग्रह-साधन के लिए तीन शब्दो का आश्रय लेने को बाध्य होते हैं—Observation Experiment और Inference—किन्तु इनके प्रतिशब्द गढ़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल से इस देश के दार्शनिकों ने समीक्षा, परीक्षा और अन्वीक्षा की सहायता से व्याप्तिग्रह करना हमें सिखाया है। इस प्रकार न जाने कितने शब्द समूह से हमारा प्राचीन साहित्य भरा हुआ है। हमको अपनी देशी भाषाओं के दर्शन साहित्य के लिए इन सब शब्दों को ढूंढ़ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार हमने ऐसे शब्दों की सूची का सकलन करना आरम्भ किया था, किन्तु थोड़ा सा ही काम हो पाया और वह

कार्य स्थगित हो गया। क्योंकि—उत्थाय हृदि लीयन्ते वकीलाना मनोरथाः।

ऐसी शब्दसूची के सकलित हो जाने से प्राचीन शब्दों के नये अपप्रयोग के मार्ग में थोडा बहुत प्रतिबन्ध होगा। हम लोग आजकल प्राय. सुना करते हैं कि इस देश में कुछ दिनो से नाटकीय 'प्रतिभा' का उद्भव हुआ है। हमने यह भी सुना है कि इस युग मे बहुत से देशों में बहुतेरे 'प्रतिभाशाली' लेखकों का उदय हुआ है। सस्कृत साहित्य की छानबीन करने से ज्ञात होता है कि हम इन सब स्थानों में 'प्रतिभा' शब्द का अपप्रयोग करते हैं। न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने लिखा है,—स्मृत्यनुमानागमसशयसुखादिप्रतिभास्वप्नज्ञानोत्थप्रत्यक्षम् इच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। यहाँ पर प्रतिभा शब्द का अर्थ इन्द्रियादि निरपेक्ष ज्ञान विशेष है। वास्तव में यही प्रतिभा शब्द का ठीक अर्थ है। पातञ्जल दर्शन के व्यासभाष्य मे हमने पढा है—तारक स्वप्रतिभोत्थ अनौपदेशिकम् (३।५४ सूत्र का भाष्य)। प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसग्रह' मे और श्रीधर की 'न्यायकन्दलि' मे इस प्रातिभ ज्ञान की व्याख्या है। फिर भी प्रतिभा शब्द का वर्तमान प्रयोग बल्कि कुछ मार्जनीय है, क्योंकि दण्डी मे प्रयोग है—न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्। महाभारतकार ने भी लिखा है—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

किन्तु अपने यहाँ जिस Science के प्रतिशब्द रूप मे हमने 'विज्ञान' शब्द ग्रहण किया है उसकी मार्जना नहीं हो सकती। ऐतरेय उपनिषद् में हम सज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान सुनते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है—

विज्ञान वाव ध्यानाद् भूय.।
विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति।

तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते ।

बृहदारण्यक उपनिषद् से हमने सीखा है—

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।

हमने बौद्ध-दर्शन में विज्ञान-स्कन्ध का उल्लेख देखा है और क्षणिक विज्ञानवादी माध्यमिक के साथ आस्तिक दर्शन का तर्कयुद्ध भी देखा है। व्यासभाष्य में पढ़ा है—

नास्त्यर्थः विज्ञान-विसहचरः ।

इन प्रयोगों के साथ Science के अर्थ में विज्ञान के प्रयोग का कुछ भी योग नहीं है। किन्तु 'प्रतिभा' इस देश में जिस प्रकार बद्धमूल हो गई है और Science अर्थात् 'विज्ञान' ने जिस प्रकार मेख गाड़ दी है उसको देखते हुए इन दोनों शब्दों का अपप्रयोग रोकना असम्भव है।

दार्शनिक शब्द-सूची के साथ सूत्राकार में ग्रथित प्राचीन मूल दर्शनों में प्रयुक्त शब्दों की भी सूची बनानी होगी। इसके लाभ और उपयोग का प्रदर्शन पण्डितों के आगे करना कदाचित् अनावश्यक होगा, फिर भी ब्रह्मसूत्र का दृष्टान्त देकर दो-एक बातें कहने की इच्छा है। सभी को मालूम है कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र, ज्ञानकाण्डीय वेद अर्थात् प्रधानतया उपनिषद् के विरोध आदि के निर्णय के लिए बनाये गये हैं। इन सूत्रों का आधार अधिकांश स्थानों में उपनिषद्-वाक्य हैं। कौन सा सूत्र किस उपनिषद् वाक्य को लक्ष्य कर रहा है, इस सम्बन्ध में भाष्यकारों के बीच स्थान स्थान पर मत-भेद देख पड़ता है। इसी लिए इन सूत्रों को विवादी भाष्यकारों ने इच्छापूर्वक अपनी अपनी ओर खींचा है। अनेक सूत्रों में तो बादरायण ने उपनिषद् में व्यवहृत शब्दों का ही अविकल प्रयोग किया है।

अपीति, अन्न, आरम्भण, ऐक्षति, हेतु, सन्ध्य प्रभृति ऐसे ही शब्द हैं। उपनिषद्-वाक्य कोष से हम सहज ही पकड़ सकते हैं कि किस उपनिषद् में कहाँ पर उन अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है और उससे यह चुन लेना सहज हो जाता है कि किस सूत्र का सम्बन्धी कौन सा उपनिषद्-वचन है। जब हम "तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्य" इस ब्रह्मसूत्र की आवृत्ति करते हैं तब इनके साथ ही हम "वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिका इत्येव सत्यम्"—इस छान्दोग्य श्रुति का स्मरण होता है। जब "ईक्षतेर्नाशब्दम्" यह पढ़ते हैं तब "स ऐक्षत एकोऽहं बहुः स्याम्" यह श्रुतिवाक्य याद आ जाता है। इसी प्रकार अन्यान्य सूत्रों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

८—अनुवाद और मौलिक ग्रंथ-रचना

किन्तु परिभाषाएं बनाना और शब्द-सूची संग्रह करना ही काफी न होगा। इसके साथ ही साथ हमें प्राच्य और पाश्चात्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद भी करना पड़ेगा। हम देखते हैं कि संस्कृत और पाली के प्रधान प्रधान दार्शनिक ग्रन्थों का, अधिकांश में, अँगरेजी में अनुवाद हो चुका है। सुना है कि जर्मन भाषा में और भी अधिक भारतीय ग्रन्थ अनुवादित हो चुके हैं। इस देश से यदि लज्जा न भाग गई हो—कादम्बरी की भाषा में 'लज्जितैव पलायिता,' न हो गई हो तो इससे हमें अवश्य ही लज्जित होना चाहिए। आनन्द की बात है कि हमारी पण्डित-मण्डली ने इस ओर से उदासीनता को हटा दिया है। उनमें से बहुतों की पहले यह धारणा थी कि अपनी दरिद्र भाषा में संस्कृत दर्शन का गुरु गम्भीर भाव व्यक्त करना ही असम्भव है। किन्तु स्वर्गीय कालीवर वेदान्तवागीश, चन्द्रकान्त तर्कालंकार, पूर्णचन्द्र वेदान्तचञ्चु और महामहोपाध्याय प्रथमनाथ तर्कभूषण, पण्डित फणिभूषण तर्कवागीश, दुर्गाचरण सांख्य वेदान्ततीर्थ, पञ्चानन तर्करत्न और हरिहरानन्द

और उसके . को भी परिचय
नहीं है। जानक दर्शन भाण्डार से
रत्न लाकर उनका अनु॰।

कहने की आवश्यकता नहीं। के लिए अनुवाद ही पर्याप्त नहीं है। यदि अपने साहित्य की दार्शनिक शाखा को सजीव और सौष्ठवमय करना है तो यह कार्य मौलिक ग्रन्थों विना नहीं होने का। अब तक हमारी भाषा में कितने मौलिक ग्रन्थ दार्शनिक प्रकाशित हुए हैं? हम मौलिक दार्शनिक चिन्तन की बात नहीं कह रहे हैं। वह तो गूलर के फूल की भाँति शताब्दी में एक बार से अधिक नहीं खिलता। मौलिक-चिन्तन-चर्चित दर्शन-कुसुम यदि हमारी किसी तरुशाखा में विकसित हो तो उसकी सुगन्ध से अवश्य ही सारा देश आमोदित हो जायगा, किन्तु जब तक यह नहीं होता है तब तक हमारा खाली हाथ बैठा रहना ठीक नहीं। पहले तो दर्शन-चर्चा हमें देशव्यापी कर देनी चाहिए। इसके लिए सरल भाषा में और सरल प्रणाली से दार्शनिक निबन्ध-ग्रन्थों का बनाया जाना आवश्यक है। इस अत्यावश्यक कार्य में आगे होने के लिए हम हित्यसम्मेलन को आह्वान करते हैं। पाश्चात्य भाषाओं में अनेक प्रकार की 'फिलासोफिकल सीरीज' चल रही हैं, हम अपनी भाषा में उस ढँग के श्रेणी ग्रन्थ रचे हुए देखना चाहते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य देशों के प्रधान प्रधान दार्शनिकों के दार्शनिक मतों का परिचय देने वाले निबन्धों की रचना होनी चाहिए। साथ साथ [illegible], [illegible] प्रभृति के '[illegible] आफ फिलासफी' के ढँग का दार्शनिक मतवाद का इतिहास अपनी भाषा में लिखे जाने के लिए व्यवस्था हो और भारतीय तथा यूरोपीय Logic, Ethics और Psychology का सार-संकलन तथा सम[illegible] करके एक एक बड़ा तर्कविज्ञान, मनोविज्ञान और [illegible] ग्रन्थ की रचना करने का उद्योग होना चाहिए।

९—दर्शन-अनुसन्धान

कई वर्ष से इस देश में इतिहास-क्षेत्र मे और विज्ञान क्षेत्र में मौलिक अनुसन्धान (original research) आरम्भ हो गया है। डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु, डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय और उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने विज्ञानक्षेत्र में नवीन आविष्कार और गवेषणा द्वारा अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इतिहासक्षेत्र मे वरेन्द्र-अनुसन्धान समिति राढ-अनुसन्धान-समितिप्रभृति समितियों की तथा स्वनामख्यात व्यक्तियों की समवेत और व्यक्तिगत चेष्टा से इतिहास मे अनेक नूतन तथ्य आविष्कृत हो रहे हैं। किन्तु दर्शन क्षेत्र मे वास्तविक 'रिसर्च' अब तक बहुत ही कम अग्रसर हुई है। अध्यापक डाक्टर ब्रजेन्द्रनाथ शील के जीवन-व्यापी अध्ययन और आलोचना का फल हमें एक दिन चखने को मिलेगा, ऐसी सम्भावना देख पडती है। किन्तु इस क्षेत्र में केवल उन्हीं के हाथ में हल चलाने का भार देकर निश्चिन्त रहने से काम नहीं चलने का। संस्कृत दर्शन क्षेत्र में इस समय बहुत गवेषणा और अनुसन्धान के लिए अवसर है। हमारे यहाँ जो षड्दर्शन प्रचलित हैं उनके सिवा क्या और कोई दर्शनशास्त्र इस देश मे प्रचलित नहीं था? अवश्य ही हमे 'सर्व्वदर्शनसंग्रह से कई एक दार्शनिक मतों का परिचय मिलता है। किन्तु उन मतों के आदि ग्रन्थ हैं कहाँ? बुद्धदेव के जीवनचरित से पता चलता है कि उन्होंने अनेक दर्शनों का अध्ययन किया था। उन मतों की भित्तिभूमि क्या थी? वास्तविक बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में इस देश मे आज तक बहुत ही कम आलोचना हुई है। इस क्षेत्र मे महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण के कौन कौन सहचर होंगे? इस सम्बन्ध मे भी हम लोगों को पाश्चात्य प्रत्नतत्त्वविदों का मुँह ताकना पड़ता है। हम लोग और कब तक दूसरों से प्रत्याशा किया करेंगे?

श्रीशंकराचार्य के नाम के साथ संयुक्त 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' से हम जान सकते हैं—

> चतुर्दशसु विद्यासु मीमांसैव गरीयसी।
> विंशत्यध्याययुक्ता सा प्रतिपाद्यार्थतो द्विधा॥
> कर्मार्था पूर्वमीमांसा द्वादशाध्यायविस्तृता।
> यस्यां सूत्रं जैमिनीयं शाबरं भाष्यमस्य तु॥
> भवत्युत्तरमीमांसा त्वष्टाध्यायी द्विधा च सा।
> देवताज्ञानकाण्डाभ्यां व्याससूत्रं द्वयोः समम्॥
> पूर्वाध्यायचतुष्केन मन्त्रवाच्यात्र देवता।
> सङ्कर्षणोदिता तद्धि देवताकाण्डमुच्यते॥

इससे जान पड़ता है कि प्रतिपाद्य विषय के भेद से मीमांसा दर्शन दो प्रकार का और बीस अध्यायों में विभक्त है। कर्मकाण्ड-विषयक, बारह अध्यायों की, पूर्वमीमांसा है—इसके सूत्रकार जैमिनि और भाष्यकार शबर हैं। अन्यपक्ष में उत्तरमीमांसा आठ अध्यायों की है। उत्तरमीमांसा के दो भाग हैं। (१) देवताकाण्ड, (२) ज्ञानकाण्ड। दोनों काण्डों के सूत्रकार व्यास हैं। पहले चार अध्याय मन्त्रोल्लिखित देवता की मीमांसा में नियोजित हैं। दूसरे चार अध्याय हमारे सुपरिचित ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शन हैं। किन्तु उत्तरमीमांसा का पूर्वार्ध, जिसे देवताकाण्ड कहा गया है, [illegible] देवताकाण्ड [illegible] तो भगवत्पादनिर्मित भाष्य था।

'भाष्यं चतुर्भिरध्यायैर्भगवत्पादनिर्मितम्', [illegible] इसकी [illegible] खोज होनी चाहिए। [illegible] ने दैवी मीमांसा [illegible] 'विचारशास्त्र' [illegible] और [illegible]—इन तीन [illegible] था [illegible] मीमांसा [illegible]

काण्ड है। किन्तु ग्रन्थ के पढने पर वह विश्वास न टिक सका। दैवी मीमासा का आरम्भसूत्र है—'अथातो भक्तिजिज्ञासा'। अन्य कई एक सूत्र ये हैं—"रसरूपः परमात्मा, जडरूपा माया। सृष्टेरतीतो बुद्धश्च पर. स भक्तिलभ्यः। वैधी रागात्मिका नाम भिन्ना साधनलभ्या गौणी। तद्विस्मरणादेव व्याकुलतासौ इति नारदः। माहात्म्यज्ञान अपेक्ष्यम्। तदभावे जारवत्।' इन पर और अन्य सूत्रों पर विचार करने से धारणा होती है कि यह दैवी मीमासा नारद-भक्तिसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थ है, यह प्राचीन देवताकाण्ड नहीं है।

ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका दार्शनिको का सुपरिचित ग्रन्थ है। सुना है कि ईसा की छठी शताब्दी में इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। ईश्वरकृष्ण ने कहा है कि उनका ग्रन्थ पञ्चशिखाचार्य के षष्ठितन्त्र का सक्षिप्त सार है।

> सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
> आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥—७२

पातञ्जल दर्शन का व्यास-भाष्य नाम से जो भाष्य प्रचलित है उसके कई स्थानों में षष्ठितन्त्र के सूत्र या वचन उद्धृत पाये जाते हैं। यह षष्ठितन्त्र कहाँ है? शायद किसी ग्रन्थागार मे उसे इस समय भी कीट खा रहे हो। उसका उद्धार कौन करेगा? विज्ञान-भिक्षु ने साख्य-शास्त्र को कालार्क-भक्षित कहा है। वास्तव में, प्रचलित षडध्यायी—जिसे हम लोग साख्यसूत्र समझे बैठे हैं—कपिल का मूल सूत्रग्रन्थ नहीं है, यह नि.सन्देह रूप मे कहा जा सकता है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के परवाद प्रसङ्ग मे साख्य और अन्यान्य दार्शनिक मतों की यथेष्ट आलोचना की है, किन्तु उस प्रसग में शङ्कर ने जिस प्रकार कणादसूत्र, न्यायसूत्र, जैमिनिसूत्र और योगसूत्र मे सूत्रों का उद्धरण दिया है उस प्रकार साख्यसूत्र से किसी सूत्र को उद्धृत नहीं किया। यह न करके उन्होंने ईश्वरकृष्ण की कारिका ही उद्धृत कर दी है।

इसका क्या कारण है? शङ्कराचार्य के समय में क्या सांख्यसूत्र प्रचलित न थे? सांख्यसूत्र के साथ उसके पूर्ववर्ती तत्त्वसमास का क्या सम्बन्ध है? कोई कोई इसी को कपिल-प्रणीत मूल सांख्यदर्शन समझते हैं। इस सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु ने कहा है—

नन्वेवमपि तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्य षडाध्याया. पौनरुक्तमिति चेत्। नैवम्। सक्षेप-विस्तररूपेण उभयोरप्यपौनरुक्तात्।

तो क्या तत्त्वसमास ही प्राचीन सांख्यसूत्र है? तत्त्वसमास को दर्शन का सूचीपत्र कहना ही ठीक है। तत्त्वसमास के कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—

अष्टौ प्रकृतय। षोडश विकारा.। पुरुष.। त्रैगुण्यम्। सञ्चर.। प्रतिसञ्चर'।

सांख्यमत बहुत ही प्राचीन है, इस सम्बन्ध में सन्देह करने के लिए गुंजाइश नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सांख्यमत का उल्लेख है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में परवाद अध्याय के सिवा अन्य स्थान में भी सांख्यमत के निरास का प्रयत्न देख पड़ता है।

यह प्राचीन सांख्यमत किस ग्रन्थ के ऊपर प्रतिष्ठित है? सांख्यसूत्र और योगसूत्र को आज-कल हम जिस आकार में पाते हैं उनमें से कुछ सूत्र बिलकुल एक रूप हैं। अतएव किसने किसका सूत्र लिया है, इसकी आलोचना होनी चाहिए।

आजकल हमें षट्दर्शन जिस आकार में प्राप्त हैं, यही क्या उनका आदि रूप है अथवा यह उनका परवर्त्ती सस्करण है? ब्रह्मसूत्र में जैमिनिसूत्र उद्धृत पाये जाते हैं। फिर पूर्वमीमांसा में ब्रह्मसूत्र के प्रति लक्ष्य किया गया है। सांख्यसूत्र में वैशेषिक दर्शन के प्रति कटाक्ष है। इससे और साधारणत' परवाद से, यह सिद्धान्त करना असगत न होगा कि प्राचीन सूत्रकारों के सक्षिप्त सूत्रग्रन्थों में उनके शिष्यों-अनुशिष्यों

द्वारा वर्द्धित आकार प्राप्त कर लिया है। षड्दर्शन का आदि रूप क्या है, इसका पता विशेष रूप से लगाया जाना चाहिए। न केवल सूत्र ही, बल्कि भाष्य-सम्बन्ध में भी बहुत कुछ अनुसन्धान होना बाकी रह गया है। कोई कोई तो शंकराचार्य को ही अद्वैत मत का प्रवर्तक समझते हैं; किन्तु उनके बाबा-गुरु गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् की जो कारिका बनाई है उससे अद्वैत मत की परिणत अवस्था का परिचय मिलता है। शंकराचार्य ने उक्त कारिका का भाष्य किया है और शारीरिक भाष्य में अपने मत का समर्थन करने के लिए भगवान् उपवर्ष को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है। उन्होंने एक और वृत्तिकार का भी उल्लेख किया है। तो ये उपवर्ष कौन थे और इनका ग्रन्थ कहाँ गया? विशिष्टाद्वैताचार्य रामानुज अपने श्रीभाष्य की भूमिका में कहते हैं कि उनका भाष्य प्राचीन भाष्यकार बोधायन के भाष्य का अनुसरण मात्र है। ये बोधायन किस समय थे और उनका वह भाष्य-ग्रन्थ कहाँ है! रामानुज अपने 'वेदार्थ-सग्रह' में कहते हैं—

यथोदित-क्रमपरिणतः भक्त्यैकलभ्य एव भगवद् बोधायन-टङ्क-द्रविड-गुहदेव-कपर्दि-भारुचि-प्रभृतिभिरवगीतः × × × श्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्था।

इन टङ्क, द्रविड़, गुहदेव, कपर्दी और भारुचि प्रभृति के कौन कौन ग्रन्थ हैं और वे कहाँ मिलेंगे? श्रीयुक्त रङ्गाचारी ने अपने श्रीभाष्य के अनुवाद की भूमिका में लिखा है—

There is evidence to show that it (the Visistadwaita School) must have come down in the form of an unbroken tradition from very ancient times.

यदि यह बात सच है तो उन प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार हुए बिना हम विशिष्टाद्वैत मत की प्राचीनता को किस प्रकार प्रमाणित करेंगे?

इस विषय में और बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। हमने तो दिक्-प्रदर्शन मात्र कर दिया है। इसी से समझ में आ जायगा कि दर्शनक्षेत्र मे भी हम लोगो को कितना अनुसन्धान, कितनी गवेषणा और कितना लुप्तोद्धार करना है।

इन गुरुतर अथच अत्यावश्यक कर्मों का भार ग्रहण करने के लिए हम साहित्य-सम्मेलन को साग्रह आह्वान करते हैं। हमारा यह सम्मेलन न केवल उत्सव-क्षेत्र है, वरन् वह कर्मक्षेत्र भी है। आइए, कर्म की सफलता से मण्डित करके हम लोग इस सम्मेलन को सार्थक और समृद्ध करें।

तरुण-भारत-ग्रन्थावली

साहित्यिक अध्यात्मिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकें, जो प्रत्येक पढ़ेलिखे घर में रहनी चाहिएं।

(१) कालिदास और उनकी कविता—लेखक आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी। यदि आप महाकवि कालिदास के समय के भारतवर्ष की सैर करना चाहते हैं, यदि आप कालिदास की कविता की मार्मिक आलोचना पढ़ कर उसका रसास्वादन करना चाहते हैं, तो आचार्य द्विवेदी जी का यह ग्रन्थ अवश्य मँगाकर देखें। मूल्य १) रु०।

(२) सुभाषित और विनोद—लेखक प० गुरुनारायण जी सुकुल। साहित्य की अनुपम छटा के साथ सुरुचिपूर्ण हास्य विनोद-सम्बन्धी यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इसमें हजारों ऐसे हास्यविनोद-युक्त चुटकुले दिये गये हैं, जिनको पढ़ कर केवल आप का मनोरंजन ही नहीं होगा, बल्कि आप का चातुर्य और ज्ञान भी बढ़ेगा। स्त्रियों और बच्चों के लिए भी बहुत ही उपयोगी है। मूल्य १॥) रु०।

(३) भावविलास—टीकाकार प० लक्ष्मीनिधि जी चतुर्वेदी साहित्य-रत्न। महाकवि देव का यह ग्रन्थ क्या काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से, और क्या रीतिग्रन्थ की दृष्टि से, हिन्दीसाहित्य मे बहुत ही ऊँचे दर्जे का माना जाता है। हमने इसकी नवीन आवृत्ति सजिल्द सटीक और अर्थसहित निकाली है। देवकवि की कविता का चमत्कार देखना हो, तो इस ग्रन्थ को देखिये। मूल्य १॥) रु०।

(४) साहित्यसीकर—लेखक आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी। इस ग्रन्थ में द्विवेदी जी के कई उपयोगी साहित्यिक निबन्धों का सग्रह है। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा पंजाब की शास्त्री परीक्षा में भी पढ़ाया जाता है। हिन्दी और सस्कृत साहित्य का मार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ को अवश्य पढना चाहिए। मूल्य १) रु०।

(५) साहित्यसुषमा—सम्पादक प० नन्ददुलारे वाजपेयी एम०

ए० और प० लक्ष्मीनारायण जी मिश्र। काव्य, नाटक, उपन्यास, प्रहसन, इत्यादि साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों पर हिन्दी के धुरन्धर विद्वानों के लिखे हुए विद्वत्तापूर्ण निबन्धों का ऐसा सुन्दर संग्रह हिन्दी में दूसरा नहीं है। वर्तमान काल के सभी साहित्यकारों के विशेष विशेष निबन्धों का इसमें समावेश हुआ है। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य १॥) रु०।

(६) गोराबादल की कथा—जटमल कवि का यह प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ संवत् १६८० की रचना है। मेवाड़ की रानी पद्मावती की सतीत्व-रक्षा के लिए बारह वर्ष के बादल ने किस प्रकार की वीरता, साहस, चातुर्य और युद्धकौशल दिखलाया, इसकी वीरगाथा ओजस्विनी कविता मे गाई गई है। प्रो० रामकुमार जी वर्मा एम० ए० ने विद्वत्ता-पूर्ण भूमिका लिखी है। मूल्य ।=) आने।

(७) निशीथ—लेखक "कुमारहृदय"। हिन्दी मे यह एक ऐसा मौलिक और साहित्यिक सामाजिक नाटक निकला है, जो स्टेज पर बड़ी सुविधा के साथ खेला जा सकता है। कथानक बहुत ही रोचक और सुरुचिपूर्ण है। भाषा का प्रवाह, भावों का तारतम्य, कल्पना की ऊंची उडान देखने योग्य है। गद्यकाव्य का पूरा पूरा आनन्द उठाना हो, तो इस रूपक को मँगाकर पढ़िये और खेलिये। मूल्य ॥।) आने।

(८) गुजरात की वीराङ्गना (सरदार बा नाटक)—लेखक 'कुमार हृदय"। गुजरात की एक मनोहर ऐतिहासिक घटना को लेकर इस दृश्यकाव्य की रचना की गई है। देशप्रेम और वीररस से भरा हुआ आदर्श क्षत्रिय वीराङ्गना का पवित्र चरित्र इतने चातुर्य से चित्रित किया गया है कि देखते ही बनता है। नाटक स्टेज पर खेलने योग्य है। मूल्य सिर्फ ॥) आने।

(९) निःश्वास—लेखिका श्रीमती रामकुमारी चौहान। रामकुमारी जी की कविताएँ करुणरस से ऐसी सराबोर होती हैं कि पढ़नेवालों का हृदय भर आता है। छायावादी ढंग की कविताओं में इनका [illegible]

विशेष स्थान है। इसी ग्रन्थ पर नागपुर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर ५००) रु० का सेकसरिया-महिला-पारितोषिक लेखिका को मिला है। मूल्य ||=) आने।

(१०) अर्चना—लेखक ठाकुर चन्द्रभानुसिंह जी। ठाकुर साहब हिन्दी के एक बहुत ही होनहार और उदीयमान कवि हैं। आपकी कविताओं में वह माधुर्य, वह रस, वह ओज और वह भाव-प्राबल्य है कि पाठक के चित्त को बलात् हरण कर लेता है। आपकी कविताओं में प्रकृति-सुषमा का दार्शनिक चित्रण बहुत ही अनोखे ढग से रहता है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने आपकी कविताओं को पसन्द किया है। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य १||) रु० ।

ग्रन्थावली की अन्य पुस्तकें